विश्व के विविध धर्म

(डी. ई. आई. की स्नातक कक्षाओं के 'विविध धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन' विषय के पाठ्यक्रमानुसार)

प्रकाशक

दयालबाग़ एजुकेशनल इन्सटीट्यूट

(डीम्ड विश्वविद्यालय)

दयालबाग, आगरा

• प्रकाशक
दयालबाग़ एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट (डीम्ड विश्वविद्यालय)
दयालबाग़ (आगरा)

• संरक्षक
प्रो.पी. के. कालरा
निदेशक- दयालबाग़ एजुकेशनल इस्टीट्यूट (डीम्ड विश्वविद्यालय)
दयालबाग़ (आगरा)

• सम्पादक मण्डल
प्रो. पी. श्री राममूर्ति - भूतपूर्व अध्यक्ष - संस्कृत विभाग, आन्ध्र वि.वि., वाल्टेयर
प्रो. (श्रीमती) उर्मिला आनन्द - अध्यक्ष - संस्कृत विभाग
डॉ. (श्रीमती) प्रेमकली शर्मा - प्रो. हिन्दी विभाग
डॉ. भगवती प्रसाद शर्मा - भूतपूर्व रीडर - हिन्दी विभाग

• दयालबाग़ एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट, दयालबाग़, आगरा

प्रथम संस्करण	: 1984	
द्वितीय संस्करण	: 1986 :	2100 प्रतियाँ
तृतीय संस्करण	: 1989 :	2000 प्रतियाँ
पुनः मुद्रण	: 1993 :	3000 प्रतियाँ
चतुर्थ संस्करण	: 1997 :	3000 प्रतियाँ
पंचम संस्करण	: 2001 :	3000 प्रतियाँ
षष्ठ संस्करण	: 2004 :	3200 प्रतियाँ
पुनः मुद्रण	: 2007 :	4000 प्रतियाँ
सप्तम संस्करण	: 2013 :	5000 प्रतियाँ
पुनः मुद्रण	**: 2017 :**	**2500 प्रतियाँ**
पुनः मुद्रण	**: 2019 :**	**5000 प्रतियाँ**

• मुद्रक :
Dayalbagh Press, Dayalbagh, Agra- 282005

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

आज भारत के सभी प्रबुद्धजन—शिक्षाशास्त्री, राजनीतिवेत्ता, विचारक एवं मनीषी यह अनुभव करते हैं कि हमारी शिक्षा प्रणाली हमारे विद्यार्थियों का चारित्रिक विकास कर, उन्हें समुचित मार्गदर्शन देने एवं उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने में असफल रही है। फलतः आज हमें अपने देश के बहुमुखी विकास के लिए शिक्षा में व्याप्त दोषों को दूर करना होगा। इसी ध्येय को सामने रखकर समय-समय पर शिक्षा आयोग गठित किये गये और उनकी सिफारिशों के अनुरूप नये-नये प्रयोग भी किये गये, किन्तु हम अब तक इस समस्या का सन्तोषजनक हल नहीं खोज सके। दयालबाग़ ने इसी समस्या को हल करने के लिए एक नयी शिक्षा प्रणाली विकसित की, जो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रशंसित एवं स्वीकृत की गयी, जिसके परिणामस्वरूप 1 जुलाई, 1981 से डी. ई. आई. (डीम्ड) विश्वविद्यालय अस्तित्व में आया।

इस विश्वविद्यालय का उद्देश्य विद्यार्थियों को परम्परागत शिक्षा से हटकर एक ऐसी नूतन शिक्षा प्रदान करना है जो विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर उनमें धर्मनिरपेक्षता, साम्प्रदायिक सद्भाव, राष्ट्रीय अखण्डता एवं एकता की भावना का विकास करे। इसी उद्देश्य के अनुरूप यहाँ विविध विषयों के पाठ्यक्रम बनाये गये हैं। दृष्टिकोण को व्यापक और मानवीय बनाने के लिए 'सांस्कृतिक शिक्षा' एवं 'विभिन्न धर्मों का अध्ययन' भी कराया जाता है। अपने पिछड़ेपन एवं अज्ञानता के कारण भारत की समस्याएँ अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल और गम्भीर हैं किन्तु उन्हें शिक्षा द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। दूसरे धर्मों का सम्मान एवं अन्य उपासना पद्धतियों की स्वीकृति तभी सम्भव है जब विद्यार्थी का धार्मिक दृष्टिकोण विभिन्न धर्मों के अध्ययन द्वारा अधिक व्यापक एवं अधिक मानवीय बनाया जाय। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए इस विश्वविद्यालय में विविध धर्मों के अध्यापन की व्यवस्था की गई।

'विविध धर्मों के अध्ययन' की शिक्षा हेतु ही प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गयी है। पुस्तक रचना के पूर्व विभिन्न धर्मों के विभिन्न विद्वानों को आमन्त्रित कर एक संगोष्ठी दिनांक 8-9-10 मई, 1983 में आयोजित की गयी। उसमें निम्न विद्वानों ने भाग लिया और अपने लेख पढ़े—

हिन्दू धर्म—डॉ. के. एल. शर्मा—प्रोफेसर—गुरू नानकदेव स्टडीज विभाग, गुरू नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर।

डॉ. पी. श्रीराममूर्ति—प्रोफेसर—संस्कृत विभाग, आन्ध्र वि. वि., वाल्टेयर।

डॉ. न. वी. राजगोपालन—अध्यक्ष—पत्राचार विभाग, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।

जैन धर्म– डॉ. राजकुमार जैन–भू. पू. अध्यक्ष–संस्कृत विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा।

बौद्ध धर्म–डॉ. जगन्नाथ उपाध्याय–अध्यक्ष, पाली विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

इस्लाम धर्म–श्री शाह नजीर फरीदी–प्रवक्ता शोबिया मोहम्मदिया इण्टर कॉलेज, आगरा।

ईसाई धर्म–रेवरेण्ड-डब्ल्यू. ओ. साइमन-विशप, आगरा मण्डल, आगरा।

उक्त विद्वानों के लेखों से सार-तत्त्व लेकर ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गयी। इसमें जिन अध्यापकों ने अपने लेख दिये हैं उनके नाम विषय सूची में दिये गये हैं। इस सफल प्रयास के लिए मैं डॉ. पी. श्रीराममूर्ति, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, वाल्टेयर वि. वि. आन्ध्र (विजिटिंग प्रोफेसर डी. ई. आई.) एवं अन्य सभी लेखकों को साधुवाद देती हूँ, जिन्होंने अपने अथक प्रयास से इस पुस्तक को प्रकाशित कराने में अपना योगदान दिया। इस ग्रन्थ के लेखन में जिन सुधी विद्वानों के ग्रन्थों की सहायता ली गयी है उनके नाम सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची में दिये गये हैं। मैं उन सबके प्रति और उनके प्रति भी जिनका नाम भूलवश सूची में न आया हो, डी. ई. आई. की ओर से आभार प्रकट करती हूँ।

मेरी कामना है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों में धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय अखण्डता, एकता एवं मानवतावादी भावना का विकास करे तथा नये भारत को नयी दृष्टि, नयी शक्ति, नयी स्फूर्ति और नयी चेतना प्रदान करे। अन्त में मैं 'पन्त' के शब्दों में आशा करती हूँ–

मानव भारत हो नव भारत, जन-मन धरणी सुन्दर।
नवल विश्व हो वह आभा रत, सकल मानवों का घर।

जी. पी. शैरी
निदेशक
दयालबाग एजूकेशनल इन्स्टीट्यूट
दयालबाग, (आगरा)

दयालबाग
20 दिसम्बर, 1984

भूमिका
(चतुर्थ संस्करण)

दयालबाग एजूकेशनल इन्स्टीट्यूट के नवीन शिक्षा-कार्यक्रम का उद्देश्य है हमारे युवाओं को मूल्य-आधारित, समग्र एवं बहु-आयामी शिक्षा प्रणाली के माध्यम से पूर्ण मानव के रूप में विकसित करना। एक तरफ तो शिक्षा को सर्वश्रेष्ठ बनाने पर बल दिया गया है तथा दूसरी तरफ इसे प्रसंगानुकूल अर्थात् सुसंगत बनाया गया है। सामाजिक सेवा, सार्वभौमिकता एवं विभिन्न धर्मों के प्रति सहिष्णुता एवं सम्मान, राष्ट्रीय आचार संहिता के संस्कार एवं संस्कृति के प्रति गर्व की भावना, ग्रामीण समाज-बोध, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं जिज्ञासापूर्ण मस्तिष्क आदि आदर्शों को उक्त शिक्षा-कार्यक्रम में अन्त:निहित करके समाविष्ट किया गया है। इन समस्त आदर्शों को सम्मिलित करने से प्रत्येक शिक्षार्थी में व्यावहारिक ज्ञान एवं स्वेच्छा के साथ अपने स्वयं के हाथों से कार्य करने की भावना विकसित हो जाती है।

इस नवीन कार्यक्रम के द्वारा स्नातक स्तर पर सोलह वर्षों से सफलतापूर्वक चल रहे कार्यक्रम के लाभों को स्नातक-पूर्व अभियान्त्रिकी डिप्लोमा पाठ्यक्रम में पिछले ग्यारह वर्षों से व हाईस्कूल एवं इण्टरमीडिएट पाठ्यक्रम में पिछले दो वर्षों से प्रसारित किया गया है।

विविध धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन के पाठ्यक्रम को ऐसे ढंग से संगठित किया गया है कि जिसमें छात्र को प्रमुख धर्मों की जानकारी हो, जिससे न केवल सहिष्णुता एवं सामंजस्य को बढ़ावा मिल सके अपितु राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता एवं नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का बीजारोपण भी हो।

'विविध धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन' के पाठ्यक्रम की शिक्षा हेतु पुस्तक 'विश्व के विविध धर्म' की रचना की गयी। इसका प्रथम संस्करण 1984 में, द्वितीय संस्करण 1986 में एवं तृतीय संस्करण 1989 में (व पुन: मुद्रण 1993 में) प्रकाशित हुआ। इसी क्रम में संशोधित, परिवर्धित एवं परिमार्जित रूप में यह चतुर्थ संस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इस संस्करण में 'पारसी धर्म' नामक अध्याय का समावेश किया जा रहा है जो पाठ्यक्रमानुसार भी है। इस चतुर्थ संस्करण का सम्पादक मण्डल विशेषतया हमारे धन्यवाद का पात्र है जिन्होंने इस पुस्तक को अधिक सरल, स्पष्ट एवं उपयोगी बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि पुस्तक का यह संस्करण मूल्य आधारित शिक्षा उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल सिद्ध होगा और पाठकों को प्रेरित व लाभान्वित करेगा।

प्रेम सरन सत्संगी
निदेशक
दयालबाग एजूकेशनल इन्स्टीट्यूट,
दयालबाग, आगरा।

दयालबाग
9 अप्रैल, 1997

भूमिका
(षष्ठ संस्करण)

वर्तमान युग में सर्वोच्च प्राथमिकता है—युवा वर्ग में नैतिकता, साम्प्रदायिक-सद्भाव, राष्ट्रीय-एकता व अखण्डता की भावना को विकसित करना। इस महद्उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट में स्नातक स्तर पर प्रत्येक विद्यार्थी के लिये 'सांस्कृतिक शिक्षा' एवं 'धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन' की शिक्षा अनिवार्य विषय के रूप में दी जाती है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिये संसार के प्रमुख धर्मों के यथार्थ स्वरूप को सहज एवं सरल रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से डी. ई. आई. द्वारा 'विश्व के विविध धर्म' नामक पुस्तक प्रकाशित है। संस्थान के भूतपूर्व निदेशक एवं वर्तमान में 'एडवायज़री कमेटी ऑन एजुकेशन, दयालबाग़ के चेयरमैन परम पूज्य प्रोफ़ेसर प्रेमसरन सतसंगी साहब के संरक्षण एवं कुशल निर्देशन में इसका विगत संस्करण संशोधित एवं परिमार्जित रूप में प्रकाशित किया गया था। आपके ही सत्परामर्श एवं कुलमालिक की दया से वर्तमान सत्र से 'धर्मविज्ञान' (Theology) विषय में 'एडवान्स स्नातकोत्तर डिप्लोमा कोर्स' प्रारम्भ किया गया है। अतः आवश्यकता के अनुरूप उपर्युक्त **पुस्तक के नवीन** संस्करण में चीन व जापान में प्रचलित ताओ, कन्फ्यूशियस तथा शिंतो धर्म को समाविष्ट किया गया है। पुस्तक का यह संशोधित संस्करण विद्यार्थियों के साथ-साथ अन्य धर्म-जिज्ञासुओं के लिये भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा ऐसी मैं आशा करता हूँ।

सन्त सरन भोजवानी
निदेशक,
दयालबाग़ एजुकेशनल इन्सटीट्यूट,
(डीम्ड) यूनीवर्सिटी दयालबाग़, आगरा।

उपोद्घात

धर्म मनुष्य का अत्यन्त प्रिय मित्र माना जाता है। यह उसको ऐहिक और आमुष्मिक सुख के लिए सहज, सरल और अनुकरणीय उपाय बताता है, पर इसका महत्त्व और इसकी उपयोगिता को मनुष्य कभी-कभी भूल जाता है। अपने अन्य पुरुषार्थ काम और अर्थ के कमाने की प्रवृत्तियों के प्रभाव में पड़कर अपने आत्म-कल्याण की चिन्ता नहीं रखता और धर्म जैसी कल्याणकारी वस्तु की उपेक्षा करता है। कभी उसको अपने शत्रु की भाँति समझता है। जो लोग धर्म की विविध संस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं वे अपने स्वार्थ की दृष्टि से धर्म को अपना धन्धा बनाकर अपनी कामनाओं की पूर्ति का एक साधन बना लेते हैं। उसके नाम पर लड़ते हैं और तरह-तरह के पाप करते हैं। इसी कारण भोले-भाले मानव की दृष्टि में धर्म एक विनोदकारी वस्तु दृष्टिगोचर होता है। वह उसकी उपेक्षा ही नहीं उससे घृणा भी करने लगता है। उससे दूर रहकर अपनी साधारण बुद्धि की सहायता से ही इस लोक में जीवन व्यतीत करके जहाँ तक हो सके वहाँ तक परलोक की बातों या आत्मा की उन्नति की बातों से विमुख हो जाता है। फलतः वह धर्म के महत्वपूर्ण और कल्याणकारी प्रभावों से वंचित रह जाता है।

इस छोटी सी पुस्तक में हम धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं, तथा हमारा प्रयत्न यह रहा है कि धर्म मनुष्य को या समस्त दुनियाँ को जीवन देने वाली आत्म-शक्ति को समझाने का प्रयास करता है। वह यह समझाता है कि जैसे चेतन शक्ति व आत्मा की उपस्थिति से समस्त शारीरिक अंग, मन और इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य करते हुए आत्मा की उन्नति के लिए काम आते हैं, इसी तरह सारी दुनियाँ को वह परम आत्मा विभिन्न प्रकार के नियमों से पालता है। इसी बात को समझाने के लिए वह महान आत्माओं को भेजकर मानव कल्याण का मार्ग बताता है। वह मार्ग ही धर्म है। धर्म वस्तुतः अपनी आत्म-उन्नति और चेतन शक्ति के जगाने का एकमात्र साधन है।

धर्म के सिद्धान्त दो प्रकार के होते हैं आन्तरिक साधन और बाह्य के संयम नियम और रीति-रिवाज। आन्तरिक मार्ग व अनुभव सारे धर्मों में एक से होते हैं। वैसे ही बाह्य नियम व रीति-रिवाज के प्रमुख उद्देश्य भी एक ही से हैं जो मनुष्य को अपनी चेतन सत्ता को जगा कर उसके भण्डार की ओर ले जाते हैं। लेकिन जो नियम व साधन अपनी इन्द्रियों को रोकने और मन की चंचलता को दूर करने के लिए हैं वे भिन्न तरह के हैं। इसी तरह वैयक्तिक व सामाजिक जीवन के नियम भी जो बताये गये हैं वे भिन्न-भिन्न होते हैं। वे नियम उसी काल व देश से सम्बन्धित हैं जब और जहाँ वे बनाये गये थे। इसलिए जब जहाँ भी अवसर पड़ता रहा तब वहाँ महान आत्माएँ जन्म लेती रहीं और मनुष्य को उन्नति का मार्ग बताती रहीं। अतः उन महात्माओं के द्वारा, जो परम सत्ता का साक्षात्कार कर चुके हैं, पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना हम सभी का परम कर्त्तव्य बन जाता है।

धर्म का मानव जीवन से सम्बन्धित किसी विषय से विरोध नहीं है। जीवन के प्रत्येक विभाग को वह धर्म के प्रयोजन से जोड़कर उनको पुनीत कर देता है। वह प्रत्येक विषय का समन्वय करके मानव को परिपूर्णता की ओर बढ़ाता है। धर्म का विज्ञान से भी विरोध नहीं है। वह भौतिक और मानसिक विज्ञान को परिपूर्णता देने वाला आत्म-विज्ञान है। वह आधुनिक तकनीकी सुविधाओं का प्रयोग करते हुए विज्ञान की उन्नति से प्राप्त हुए विश्राम को आत्मोन्नति के लिए प्रयुक्त करने का प्रयास करता है। जब समस्त मानव जाति धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को आत्मसात् कर अपनी चैतन्य शक्ति को जागृत कर लेगी तब संसार में सर्वत्र व्याप्त विरोध-झगड़े, ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा आदि दुर्विचार और दुराचार सब समाप्त हो जायेंगे और परम शान्ति की स्थापना हो जायेगी। सभी जन उस परम सत्ता को अपना माता-पिता और मनुष्य मात्र को अपना भाई समझने लगेंगे। इस प्रकार दुर्लभ और पवित्र मानव जीवन सफल हो जायेगा।

संसार में विभिन्न धर्म समय-समय पर विभिन्न देशों में जन्म लेते रहे। प्रकृति ने जिस प्रकार प्राणिमात्र के पालन-पोषण के लिए सुविधाएँ प्रदान की हैं उसी प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क और आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी प्रबन्ध किया है। ऋषि, मुनि, पीर-पैगम्बर, साधु और सन्त-महात्मा मनुष्य की आत्मिक उन्नति के लिए पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं। उनके ही सिद्धान्त पृथक्-पृथक् धर्म के रूप में विकसित होते रहे हैं। विभिन्न देशों में मनुष्य जाति को अपने पाशविक और अनागरिक अवस्था से उन्नति की ओर अग्रसर

करते रहे, परन्तु महात्मा स्वयं गुप्त हो गये, तब उनके अनुयायियों ने उनके मौलिक सिद्धान्तों को भूलकर धर्म को परस्पर द्वेष और भेद-भाव का कारण बना दिया। परम पिता तो मानव मात्र का सर्वांगीण कल्याण चाहता है; इसलिए, सिद्ध पुरुष और साधु सन्तों का इस संसार में जन्म लेना एक अटल नियम बन गया जिससे मानव कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्न सम्पन्न होता रहे।

इस पुस्तक में यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि विभिन्न देशों व भिन्न-भिन्न कालों में मानव को, जो वास्तव में चेतन रूप है, अपने चैतन्य भण्डार की ओर ले जाने तथा अपने जीवन को कल्याणकारी और परिपूर्ण बनाने के लिए क्या-क्या प्रबन्ध किये गये। सर्वप्रथम धर्म क्या है ? धर्म का प्रयोजन क्या है ? और धर्म के प्रति विभिन्न विचार क्या हैं ? यह स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् धर्म का प्रागैतिहासिक स्वरूप और धर्म के स्वरूप और धर्म से सम्बन्धित माने जाने वाले जादू-टोनों आदि का विश्लेषण करके धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। धर्म को आत्म-विकास का एकमात्र साधन सिद्ध करके धार्मिक विचारों के विकास को क्रमश: ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक में वैदिक जैन, बौद्ध, सिक्ख और सन्त परम्पराओं का संक्षेप रूप में वर्णन किया गया है; दूसरी ओर मध्य एशिया के यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों का विकास भी प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत: समस्त धार्मिक धाराएँ एशिया में मुख्यत: भारत में ही प्रस्फुटित हुईं, तत्पश्चात् समस्त दुनियाँ में व्याप्त हो गईं। इन धर्मों के अध्ययन से विद्यार्थी इन धर्मों के स्वरूप को समझ सकें और सब धर्मों की मूलभूत एकता पर दृष्टिपात कर सकें तथा मानव की आन्तरिक चेतना की उन्नति के लिए धर्म की आवश्यकता को समझ कर अपने जीवन में धर्म को समुचित स्थान देकर महात्माओं के पथ-प्रदर्शन में अपने जीवन को परिपूर्ण और सफल कर सकें, इसी आशा से यह प्रयास किया गया है।

प्राय: बालक तथा बालिकाएँ जिस परिवार में जन्म लेते हैं उसी के अनुरूप धर्म के रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड और साधन अपनाते हैं। जो विचार, तर्क और वैज्ञानिक दृष्टि दूसरे विषयों को समझने में प्रयोग करते हैं वह दृष्टिकोण धर्म की वास्तविकता को समझने में नहीं होता। यद्यपि कुछ लोग इन विषयों को समझने की जिज्ञासा रखते हैं, उनको समझाने के लिए कोई भी प्रबन्ध घर, पाठशाला या अन्यत्र कहीं भी नहीं किया जा रहा है। विद्यार्थियों को जीवन में धर्म का महत्त्व एवं उसकी प्रधानता को समझाना हमारा कर्त्तव्य है। धर्म भिन्न प्रकार के क्यों हो गये हैं ? इनमें भेद क्या है ? और एकता किस तरह से है ? ऐसी भिन्नता में एकता से क्या प्रयोजन सम्पन्न हो रहा है ? इन सब तथ्यों पर भी यथासम्भव प्रकाश डाला गया है।

हमारे इस लघु प्रयास में जो भी त्रुटियाँ हों उनके लिए उस परिपूर्ण चेतन शक्ति के प्रति विनम्र प्रार्थना करते हुए क्षमा याचना करते हैं। विशेषज्ञ जन हमारे इस प्रयास को और अधिक संस्कारित करने के लिए जो भी परामर्श देने का कष्ट करेंगे उनके प्रति हम अति आभारी होंगे। इस लघु पुस्तक को सम्पादित करते हुए हमें कई महानुभावों की प्रसिद्ध रचनाएँ देखनी पड़ीं। वस्तुत: उन महानुभावों के मार्ग दर्शन के बिना धर्म के तत्त्वों को कुछ भी समझना बहुत कठिन है। उन महानुभावों और विद्वानों के प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

आज मानव साम्प्रदायिक विद्वेष व सामाजिक विघटन की त्रासदी को भोग रहा है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि धर्मगत पारस्परिक भेदभाव, अलगाव व टकराव को दूर किया जाये। इसके लिये विश्वमानव-समाज को एक परिवार की परिधि में समेटना होगा। इसी उद्देश्य से प्रकाशित 'विश्व के विविध धर्म' नामक पुस्तक का सप्तम संस्करण जिज्ञासु पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। नवीन संस्करण के प्रकाशन के समय हम संस्थान के भूतपूर्व निदेशक एवं वर्तमान में 'एडवाइजरी कमेटी ऑन एजुकेशन, दयालबाग़' के चेयरमैन परम पूज्य प्रोफेसर प्रेम सरन सतसंगी साहब के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं क्योंकि उनकी ही प्रेरणा व प्रोत्साहन से यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित हो सका। अन्त में, डी. ई. आई. के निदेशक माननीय प्रो. पी. के. कालरा के प्रति आभार प्रकट करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है जिनके संरक्षण एवं कुशल निर्देशन में यह कार्य सम्पन्न हुआ।

सम्पादकीय

विषय-सूची

अध्याय	पृष्ठ संख्या
1. धर्म का स्वरूप, उद्देश्य और आवश्यकता (प्रो. पी. के. शर्मा, प्रो.—हिन्दी विभाग)	1-7
2. धर्म का इतिहास व सिद्धान्त (श्रीमती ए. पी. दास, भूतपूर्व प्रवक्ता (शिक्षा-विभाग) डब्ल्यू. टी. कॉलेज. दयालबाग़, आगरा)	8-17
3. वैदिक धर्म—(डॉ. सन्तकुमारी श्रीवास्तव, भूतपूर्व अध्यक्ष—संस्कृत विभाग)	18-25
4. हिन्दू धर्म—इतिहास, स्मृति एवं पुराण (डॉ. बी. पी. शर्मा सेवानिवृत्त रीडर—हिन्दी विभाग)	26-31
5. शैव, वैष्णव एवं शाक्त धर्म—(डॉ. सन्तकुमारी श्रीवास्तव)	32-36
6. भारतीय दर्शन में धर्म-विचार (प्रो. (श्रीमती) उर्मिला आनन्द, अध्यक्ष—संस्कृत विभाग)	37-40
7. भक्ति मार्ग—उद्भव और विकास (डॉ. एन. एस. दुबे, भूतपूर्व रीडर—हिन्दी विभाग)	41-50
8. हिन्दू धर्म की नयी प्रवृत्तियाँ (डॉ. बाबूलाल वत्स, भूतपूर्व प्रवक्ता, आर. ई. आई. इण्टर कॉलेज, दयालबाग़	51-55
9. जैन धर्म—(प्रो. पी. श्रीराममूर्ति, भूतपूर्व अध्यक्ष—संस्कृत विभाग आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर)	56-61
10. बौद्ध धर्म—(प्रो. पी. श्रीराममूर्ति)	62-66
11. पारसी धर्म—(प्रो. पी. श्रीराममूर्ति, प्रो. (श्रीमती) प्रभा शर्मा—संस्कृत विभाग)	67-69
12. यहूदी धर्म—(श्रीमती ए. पी. दास)	70-75
13. (A) ताओ धर्म—(प्रो. उर्मिला आनन्द)	76-78
(B) कन्फ़ूशीवाद—(प्रो. प्रभा शर्मा)	79-82
14. शिंतो धर्म—(प्रो उर्मिला आनन्द)	83-84

अध्याय	पृष्ठ संख्या
15. ईसाई धर्म–(श्रीमती ए. पी. दास)	85-93
16. इस्लाम (स्व. श्री एस. पी. मदहोश, भूतपूर्व प्रबन्ध सम्पादक 'उत्तर भारती' शोध-पत्रिका समस्त विश्वविद्यालय, उ. प्र.)	94-102
17. सूफ़ी मत–(स्व. श्री एस. पी. मदहोश)	103-110
18. सन्त मत–(प्रो. पी. के. शर्मा)	111-114
19. सन्त कबीर और कबीर पंथ–(डॉ. बाबूलाल वत्स)	115-120
20. गुरुनानक और सिक्ख धर्म–(प्रो. उर्मिला आनन्द)	121-125
21. राधास्वामी मत–(श्रीमती ए. पी. दास)	126-138
22. उपसंहार–(प्रो. पी. श्रीराममूर्ति)	139-144
23. Religions of the world–**प्रो. पी. श्रीराममूर्ति**–Ed.	145-158

1

धर्म का स्वरूप, उद्देश्य और आवश्यकता

धर्म का स्वरूप समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस शब्द के अर्थ को जान लें। शब्दकोश में धर्म शब्द के अनेक अर्थ दिए हैं, यथा–कर्त्तव्य, प्रकृति, गुण, पंथ और मजहब आदि। यहाँ पर हम धर्म को पंथ या मजहब के ही अर्थ में ग्रहण करेंगे।

धर्म शब्द धृ धातु से निर्मित है जिसका अर्थ है धारण करना अर्थात् जो धारण करने योग्य है तथा जो धारण करता है। स्पष्ट है कि धर्म में समाज को धारण करने की शक्ति होती है तथा समाज के लिए भी वह धारण करने योग्य है।

नालन्दा विशाल शब्दसागर के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ है–

वह वृत्ति या आचरण जो लोक या समाज की स्थिति के लिए आवश्यक हो। वह आचार जिसके द्वारा समाज की रक्षा और सुख-शान्ति की वृद्धि हो और परलोक में भी उत्तम गति प्राप्त हो।

धर्म शब्द का अंग्रेजी रूपान्तर रिलीजन (Religion) है जो लैटिन भाषा के Religare शब्द से निर्मित है। Re का अर्थ है Again अर्थात् पुनः और Ligare का अर्थ है to tieback अर्थात् जोड़ना, अस्तु, इसका अर्थ हुआ पुनः जोड़ना या बाँधना। इस प्रकार इस शब्द से यह संकेत मिलता है कि आत्मा अपने भण्डार परमात्मा से अलग हो गयी है और धर्म के द्वारा वह पुनः अपने भण्डार परमात्मा से जोड़ी जाती है।

धर्म को परिभाषित करने का प्रयास भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। धर्म के स्वरूप के निर्धारण हेतु दोनों ही मतों के तथ्यों पर दृष्टिपात करना आवश्यक होता है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण–पाश्चात्य विचारकों में हीगेलवादियों ने धर्म में बुद्धि के अंश पर बल दिया है। **प्रो. मैक्टेगार्ड** के अनुसार, "धर्म स्पष्टतया ही एक मानसिक अवस्था है।.........मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह इसमें और विस्तृत विश्व में एक सामंजस्य की आस्था पर आधारित एक भावना के रूप में सर्वोत्तम रीति से वर्णन किया जा सकता है।"

प्रस्तुत परिभाषा में धर्म को एक मानसिक अवस्था कहकर उसके बौद्धिक पक्ष पर ही बल दिया है।

नीतिवादी धर्म के नैतिक पक्ष पर बल देते हैं। मैथ्यू आरनौल्ड धर्म की व्याख्या निम्न शब्दों में करते हैं–

"धर्म भावनामय नैतिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

कांट एवं ब्रैडले प्रभृति विद्वान भी धर्म के इसी पक्ष के समर्थक हैं। ब्रैडले का कहना है कि–

"नैतिकता एक अधिक ऊँचे शुभ के स्तर पर पहुँचती है। वह वहाँ समाप्त होती है जिसको हम धर्म कहते हैं।"

नीतिवादी विचारकों के मतों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि धर्म और नैतिकता एक-दूसरे के पर्याय नहीं। धर्म अनैतिक नहीं होता किन्तु फिर भी वह नैतिकता से परे है। नैतिकता का सम्बन्ध लौकिक व्यवहार एवं मानवता से होता है जबकि धर्म का सम्बन्ध आत्मा एवं परमात्मा से अधिक होता है।

पाश्चात्य विचारकों में एक वर्ग ऐसा है जो धर्म के दैवी तत्त्व को महत्त्व देता है। **विलियम जेम्स** के अनुसार–

"व्यक्तियों की अपने एकान्त की अनुभूतियाँ, कर्म और अनुभव जहाँ तक कि वे अपने को उस सत्ता से सम्बन्धित पाते हैं जिसको कि वे दैवी कहते हैं।"

हम देखते हैं कि विलियम जेम्स की धर्म सम्बन्धी यह परिभाषा भारतीय दृष्टिकोण के अधिक निकट है। इसमें उस सत्ता की ओर संकेत है जिससे धर्म मानवता को जोड़ता है।

भारतीय दृष्टिकोण– भारतीय विचारकों ने धर्म को ईश्वर की खोज एवं उससे मिलने का साधन माना है। **श्री अरविन्द** के शब्दों में–

"धर्म का सर्वाधिक आन्तरिक तत्त्व ईश्वर की खोज और ईश्वर की सिद्धि है।"

धार्मिक नेताओं ने धर्म को वह मार्ग माना है जिस पर चलकर आत्मा अपने निज भण्डार अर्थात् परमात्मा तक पहुँचती है। परम गुरु हुजूर महाराज के धर्म सम्बन्धी निम्न शब्द इसी मत की पुष्टि करते हैं–

"जिस रास्ते से होकर और जिस जुगत को करके सुरत, रूह या जीव लौटकर अपने भण्डार में पहुँचे, उसे मत, मजहब या पंथ कहते हैं।"

धर्म सम्बन्धी उपर्युक्त परिभाषा में दो शब्द विशेष महत्त्व के हैं–

(1) रास्ता, (2) जुगत।

धर्म परम चेतन सत्ता से साक्षात्कार का मार्ग दिखाता है तथा आन्तरिक एवं बाह्य युक्ति साधन भी बताता है जिसे अपनाकर मानवात्मा रूपी यात्री अपनी मंजिल (गन्तव्य) या निजधाम तक पहुँचती है।

परमगुरु साहबजी महाराज धर्म को भगवान की देन मानते हैं क्योंकि इसी मार्ग से वे सन्त और महात्मा अवतरित हुए जिन्होंने मानव को ईश्वर (परमसत्ता) तक पहुँचने का मार्ग दिखाया–

Religion is one and the same and it is the way by which the Supreme divine descends here and by getting hold of which we can asoend back to Him. This is Religion or consequently it is a gift of God.

परमगुरु साहब जी महाराज के उपर्युक्त शब्दों से भी यह प्रमाणित होता है कि धर्म एक मार्ग है जिस पर चलकर ऋषि मुनि, अवतार व पैगम्बर पृथ्वी पर आये और इसी मार्ग से वे मानव को अपने गन्तव्य तक ले जायेंगे।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि धर्म आत्मा को परमात्मा से मिलाने का साधन है।

धर्म का उद्देश्य– धर्म की उत्पत्ति मानव कल्याण हेतु हुई है। विश्व में जितने भी धर्म प्रचलित हैं, यथा, हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, तावोइज्म, शिन्टो धर्म, सन्त मत आदि इन सब धर्मों का एकमात्र उद्देश्य है मानव की दु:ख से निवृत्ति करवाना तथा सुख की प्राप्ति करवाना। हम देखते हैं कि जब-जब दुष्टों ने अत्याचार किये, तब-तब ईश्वर ने अवतार धारण कर मानव समाज की रक्षा की। श्री रामचन्द्र जी ने अनेक राक्षसों का वध कर साधुजनों के कष्टों का निवारण किया। श्री कृष्ण ने भी नरकासुर आदि राक्षसों का वध इसी उद्देश्य से किया। इन धार्मिक नेताओं ने अपनी अन्तर्दृष्टि का प्रकाश देकर पथ-भ्रष्ट मानवों का पथ-प्रदर्शन किया।

धर्म वह साधन बतलाता है जिसे अपनाकर हम सांसारिक दु:खों से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। एक स्थित-प्रज्ञ मानव पर सांसारिक दु:ख-सुख, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन आदि का प्रभाव नहीं पड़ता।

धर्म का उद्देश्य है मानव को सांसारिक भोग-विषयों की असारता का दिग्दर्शन कराके जीवन में यम, नियम एवं संयम का महत्व अनुभूत कराना। धर्म का उद्देश्य है मानव को आत्मज्ञान प्रदान करना तथा सच्चिदानन्द को प्राप्त कर परमानन्द की अनुभूति कराना।

धर्म की आवश्यकता– धर्म की मानव जीवन में अनिवार्य आवश्यकता है। यह वह बहुमूल्य रत्न है जिसे मानव को सदैव ही अपनी गाँठ में बाँधकर रखना चाहिए। धर्म के द्वारा मानव के मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार में परिमार्जन होता है तथा वह खाने-पीने, हँसने-रोने से ऊपर उठकर श्रेष्ठ जीवनयापन करना सीखता है। मानव जिज्ञासाओं की तृप्ति हेतु भी धर्म की आवश्यकता है। मानव कहाँ से आया है ? उसे कहाँ जाना है ? मानव हृदय में उठने वाले इन प्रश्नों का उत्तर धर्म ही दे पाता है।

धर्म की आवश्यकता पशु, पक्षी, प्रकृति एवं मानव जगत के लिए समान रूप से है। मनुष्य, पशु, पक्षी और कीड़े-मकोड़ों की प्रत्येक क्रिया के पीछे एक सामान्य उद्देश्य होता है, वह है, सुख की प्राप्ति तथा दु:ख का परिहार। पौधा अपनी डालियों को उसी दिशा में झुकाता है जहाँ से सूर्य का प्रकाश प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि जीव जीवित रहने के लिए एक स्थायी अवस्था की खोज करता है जो शुद्ध प्रसन्नता से युक्त है और दु:ख अथवा विरोध से प्राप्त नहीं की जा सकती है। यह एकमात्र धर्म ही है जो मनुष्य को दिखाता है कि वह अवस्था कहाँ स्थित है और वह कैसे प्राप्त की जा सकती है।

मानव योनि के तीन भाग हैं– 1. शरीर, 2. मस्तिष्क, तथा 3. आत्मा। शरीर का पोषण विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों द्वारा होता है। मस्तिष्क का पोषण विभिन्न प्रकार की ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं के अध्ययन द्वारा हो जाता है; परन्तु आत्मा का विकास धर्म के द्वारा ही सम्भव है। आत्मिक विकास के अभाव में मानव उत्तम मानव नहीं बन सकता। सम्पूर्ण मानव की कल्पना धर्म के अभाव में साकार नहीं हो सकती। यही कारण है कि प्राचीन काल से हमारे यहाँ शिक्षा में धर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता रहा है। प्राचीन काल में विद्यार्थी आश्रमों में गुरु के संरक्षण में विद्या प्राप्त करते थे। व्रत, पूजा, पाठ, संध्यावंदन उस समय छात्र-जीवन के अनिवार्य अंग थे। इसके अतिरिक्त गुरु उन्हें ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी ज्ञान भी प्रदान करते थे।

धर्म की आवश्यकता मानव जीवन में दो कारणों से होती है—

लौकिक दृष्टि से, पारलौकिक दृष्टि से।

लौकिक दृष्टि से धर्म की महती आवश्यकता है। प्रायः मानवों की यही धारणा है कि धर्म का संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है वह तो केवल दिव्य लोक से ही सम्बन्धित है। किन्तु लोक परलोक की पृष्ठभूमि है। यदि लोक में हम कुत्सित, घृणित एवं भद्दा जीवन-यापन करते हैं तो हमारा परलोक कभी सुन्दर नहीं हो सकता। धर्म के द्वारा मानव के मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार में परिमार्जन होता है। धर्म मानव को ऐन्द्रिय जगत से अतीन्द्रिय जगत की ओर तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाता है। इस प्रकार धर्म के द्वारा जीवन की काट-छाँट एवं तराश होती रहती है। यदि ऐसा न हो तो मानव एवं पशु के व्यवहार में कोई अन्तर ही न हो। मानव मन में अनेक जिज्ञासाएँ उठती हैं, यथा, हम कहाँ से आए हैं ? हमारा गन्तव्य क्या है ? आदि प्रश्नों के उत्तर भी धर्म ही देता है।

धर्म की लौकिक दृष्टि से आवश्यकता इसलिए भी है कि धर्म के द्वारा मानव में विवेक जागृत होता है। उसे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान, त्याज्य-गृहणीय का ज्ञान एवं सत्य-असत्य का ज्ञान धर्म ही देता है। धर्म मानव एवं समाज को श्रेष्ठ शाश्वत मूल्यों, यथा—प्रेम, सेवा, सहयोग, सहानुभूति, परोपकार, करुणा, अहिंसा का ज्ञान प्रदान कर उन्हें दिशा एवं दृष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार धर्म के माध्यम से ही मानव स्वयं में नैतिकता का विकास करता है। इस प्रकार धर्म की लौकिक आवश्यकता को देखते हुए कहा जा सकता है कि धर्म संसार से पलायन नहीं, एकान्त साधना भी नहीं अपितु संसार में रहते हुए ही योग साधना है।

संसार के पापों के विनाश हेतु भी धर्म की आवश्यकता है। इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि जब-जब समाज में पाप बढ़े, तब-तब भगवान ने अवतार लेकर समाज की रक्षा की। भगवान राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा आदि इसी उद्देश्य से पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। सन्तों ने भी समाज की कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया, यथा—कबीरदास जी ने धर्म के नाम पर फैले ढोंग तथा पाखंड का विरोध किया। जाति एवं वर्ण के आधार पर खंडित होते हुए मानव समाज को पुनः एकता के सूत्र में बाँधा, आज भी समाज में जो कुरीतियाँ हैं, जो अशान्ति एवं हिंसा का तांडव हो रहा है, उससे मुक्ति कोई अवतारी पुरुष या समय के सतगुरु ही दिला सकते हैं। अतः आज के समाज में भी धर्म की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। हमारे देश भारत की शासन प्रणाली प्रजातन्त्र है जिसका आधार है स्वतन्त्र, समानता एवं भ्रातृत्व भावना। धर्म में ये तीनों भावनाएँ निहित हैं। अतः धर्म प्रजातन्त्र को सफल बनाने में भी सहायक सिद्ध होता है। इसलिए शिक्षाशास्त्री धर्म को भी शिक्षा का एक आवश्यक अंग मानते हैं।

धर्म की आवश्यकता पारलौकिक दृष्टि से भी है। मानव-शरीर, मन एवं इन्द्रियों में चेतनता आत्मा के ही कारण है। आत्मा प्राण शक्ति का केन्द्र है। लेकिन इस आत्मा या चेतन शक्ति की असलियत को जानने के लिए धर्म की आवश्यकता होती है। मानव-जीवन का परम उद्देश्य है सुरत या आत्मा का निज भण्डार से मिलना। धर्म वह मार्ग बताता है जिस पर चलकर जीव निज भण्डार में पहुँचता है। सुरत जब निर्मल चेतन धाम में प्रवेश करेगी, तब वह अजर और अमर हो जायेगी तथा सब प्रकार के दुःख व क्लेशों से मुक्ति मिल जायेगी। धर्म की आवश्यकता इसलिए भी है कि इसे अपनाकर मानव उस पद को प्राप्त होता है जिससे परमार्थ की प्राप्ति होती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए चलना कहाँ से होगा तथा पहुँचना कहाँ होगा ? यह जानना

आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति धर्म ही कर सकता है। ईश्वर तक पहुँचने के द्वार मानव शरीर में विद्यमान हैं। धर्म मानव को इन द्वारों से परिचित कराता है तथा वह युक्ति बताता है जिससे मानव इन द्वारों को खोलने में समर्थ हो। सृष्टि के सब जीवों में उत्तम जीव है—मानव। वह स्वयं चेतन होकर अपने भण्डार तक जाने वाला जीव है। वह God seeking animal है। किन्तु इस महान् उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उसे धर्म की आवश्यकता है। केवल मानव ही धर्म के उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है, अन्य जीत्र नहीं। अतः मानव को ही इसकी आवश्यकता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि नर-योनि को सफल बनाने हेतु ईश्वर ने मानव को धर्म उपहार में दिया। धर्म मानव का सच्चा मित्र है, मानव समाज का रक्षक है। परम गुरु साहबजी महाराज के निम्नलिखित शब्द इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं—

"Religion is the greatest gift of God to humanity and is also the most ancient friend of man, in the coming future it will prove itself to be the saviour of human race." "From Religion I mean the spiritual light, that, purifies and illumines human heart, that elevates and expands the human soul and that makes it possible for the human mind to realise the Fatherhood of God and Brotherhood of man."

अर्थात् धर्म, परमात्मा का मानवता के लिए महानतम उपहार है और यह मानव का सबसे प्राचीन मित्र है। भविष्य में यह मानव जाति का रक्षक होगा। धर्म का अर्थ है आध्यात्मिक प्रकाश जो कि मानव हृदय को शुद्ध एवं प्रकाशित करता है। धर्म मनुष्य को यह अनुभव कराता है कि ईश्वर परम पिता है तथा मानव-मानव परस्पर भाई-भाई हैं।

धर्म और विज्ञान

धर्म और विज्ञान परस्पर पूरक हैं। धर्म के अभाव में विज्ञान नेत्रहीन है तथा विज्ञान से अलग होकर धर्म मात्र पाखण्ड है। विज्ञान का अर्थ है—क्रमबद्ध, सुसंगठित ज्ञान, जो भली-भाँति परीक्षित, सत्यापित, सुव्यवस्थित एवं वर्गीकृत प्रेक्षणों पर आधारित हो। धर्म आत्मा का विज्ञान है। वैज्ञानिक प्रयोग करके सत्य की खोज करता है तथा धार्मिक साधनों के द्वारा उस सत्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार दोनों का उद्देश्य एक ही है—सत्य की खोज करना। विज्ञान की प्रयोगशाला मानव शरीर के बाहर भौतिक जगत् में है जबकि धर्म की प्रयोगशाला मानव शरीर के अन्दर है। विज्ञान बाह्य प्रकृति में सत्य की खोज करता है तथा धर्म आत्म ज्ञान के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार धर्म आत्मा का विज्ञान है क्योंकि इसकी साधना में भी एक आन्तरिक व्यवस्था होती है। इसमें भी कई सोपान होते हैं, यथा—पहले शरीर के स्तर पर शुद्धि, इन्द्रियों पर संयम रखना आदि। फिर मन के स्तर पर क्रोध, ईर्ष्या, बैर आदि को त्यागना और तब आत्मतत्त्व को मानव पहचान पाता है। जब तक मनोविकारों का आवरण आत्मा पर चढ़ा रहेगा, तब तक सत्य की प्राप्ति असम्भव है। इस प्रकार धर्म साधना में भी एक सुव्यवस्था एवं क्रमबद्धता है। वैज्ञानिक प्रयोग करते समय निरन्तर ध्यान केन्द्रित रखता है। प्रयोगकर्ता उस सामग्री से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही प्रक्रिया धार्मिक साधना में भी है। साधक अपनी साधना में पूर्णरूपेण तल्लीन हो जाता है। यही उसकी सफलता का रहस्य है। विज्ञान की खोज ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान पर निर्भर करती है जबकि आत्मा का ज्ञान आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय या दिव्य चक्षुओं द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार इन दिव्य चक्षुओं का ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञानार्जन धर्म और विज्ञान दोनों

के ही मूल में है। विज्ञान एवं धर्म दोनों की खोज का क्षेत्र भिन्न है परन्तु खोज का उद्देश्य एवं विधि दोनों ही एक समान हैं।

विज्ञान और धर्म की उत्पत्ति के मूल में ज्ञान की प्यास है। मानव ने जब अपने परिवेश के विषय में जानने की इच्छा की तो विज्ञान का जन्म हुआ तथा जब उसने स्वयं अपने विषय में जानने की इच्छा की कि "वह कहाँ से आया है ? उसे कहाँ जाना है ?" तब धर्म की उत्पत्ति हुई। इस आत्मज्ञान की प्यास ने धर्म को जन्म दिया।

विज्ञान और धर्म दोनों का ही उद्देश्य मानव कल्याण है। मेडिकल साइन्स ने अनेक रोगों का उपचार प्रदान कर पीड़ित मानवता को सुख-शान्ति दी है। इसी प्रकार अणुशक्ति द्वारा विभिन्न प्रकार के कल-कारखाने बनाकर उत्पादन में वृद्धि करके मानवता को विभिन्न प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्रदान कीं। कृषक अब वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग करके पहले की अपेक्षा कई गुना अन्न अधिक उपजा लेते हैं। इस प्रकार लौकिक स्तर पर विज्ञान ने मानव को सुखी बनाया है तथा धर्म ने मानव को शाश्वत सुख प्रदान किया है; उस परम सत्य तक पहुँचने का मार्ग बताकर उसे परमानन्द की प्राप्ति करायी है। धर्म ने ही मानव को एक परम पिता की सन्तान सिद्ध करके उसमें भाईचारा एवं सद्भावना का विकास किया है। धर्म ने मानव के अन्दर स्थित बहुमूल्य रत्न आत्मतत्व को पहचानने के लिए प्रेरित कर उसकी नर-योनि को सफल बनाया है। उसका आध्यात्मिक विकास किया है तथा इस प्रकार उसे पथ भ्रष्ट होने से बचा लिया है।

विज्ञान और धर्म दोनों ही एक अलौकिक सत्ता पर विश्वास करते हैं। इनके अनुसार यह अलौकिक सत्ता ही विश्व का संचालन करती है। हमारे ऋषि, मुनि एवं संत इस सत्ता का साक्षात्कार अपनी साधना के माध्यम से कर चुके हैं। वैज्ञानिक पहले पदार्थ को सत्य मानते थे, अब शक्ति (Energy) को सत्य मानते हैं। सन् 1940 तक विज्ञान ने स्वीकार कर लिया था कि पदार्थ अपरिवर्तनीय है। लेकिन एटम के विखण्डन से यह बात प्रकाश में आई कि पदार्थ ताप, प्रकाश, विद्युत आदि भौतिक शक्तियों के समान ही एक भौतिक शक्ति है। प्रश्न उठता है कि ये भौतिक शक्तियाँ कहाँ से आती हैं ? इस संदर्भ में विज्ञान धर्म के उत्तर को स्वीकार कर रहा है कि ये भौतिक शक्तियाँ अपने अस्तित्व के लिए आत्मिक शक्ति पर निर्भर हैं। इस प्रकार वे धर्म के अधिक निकट आते जा रहे हैं। वैज्ञानिक वनस्पति में जीवन बताते हैं। सर जगदीशचन्द्र बसु प्रथम भारतीय वैज्ञानिक थे जिन्होंने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया कि पेड़-पौधों में भी जान है। किन्तु वे यह नहीं बता सकते कि यह ज्ञान देने वाला कौन है ? वे यह तो बता देते हैं कि एक सैल (Cell) से बच्चा बन जाता है किन्तु इस सैल के किस भाग से उसके हाथ-पैर आदि बन जाते हैं, यह वे नहीं बता सकते हैं। इसके लिए उन्हें धर्म का ही आश्रय लेना पड़ेगा। इसके लिए उन्हें प्रयोगशाला संसार को नहीं, अपने शरीर को बनाना होगा।

धर्म और विज्ञान दोनों ही सत्य की खोज करते हैं। ज्ञान का केन्द्र एक ही है। धार्मिक उस केन्द्र बिन्दु तक पहुँच चुके हैं, तथा वैज्ञानिक भी उसी के निकट आ रहे हैं। धार्मिक जिस सत्य तक पहुँच चुके हैं वही जीवन का वास्तविक सत्य है। उपनिषदों में कहा गया है— अन्य सभी ज्ञान अपरा विद्या हैं केवल आत्मज्ञान ही पराविद्या है। पराविद्या से तात्पर्य है— Transcendental knowledge अर्थात् अन्तरात्मा को जानना। इस प्रकार सिद्ध होता है कि धर्म और विज्ञान में विरोध नहीं है परन्तु अधिकांश लोगों की यही धारणा है कि इनमें विरोध है। अत: यहाँ इस गलत धारणा का निराकरण करना आवश्यक हो जाता है।

धर्म और विज्ञान दोनों ही अपने जन्म के समय जादू से सम्बन्धित थे। दोनों को ही जादू से अलग होने के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ा। धर्म का पतन उसे पुन: जादू एवं अन्धविश्वासों से जोड़ देगा। तब धर्म का विज्ञान से विरोध पैदा होता है क्योंकि धर्म के अधिकारी पुजारी आदि के स्वार्थों से विज्ञान का टकराव है। वे धर्म के अधिकारी नेता विज्ञान को नहीं मानते थे। वे उसका विरोध करते थे। यदि वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ धार्मिक प्रगति भी होती रहती तो यह समस्या उत्पन्न नहीं होती। वर्तमान युग में ठीक इसके विपरीत हुआ। वैज्ञानिक प्रगति तो खूब हुई परन्तु धर्म एवं ईश्वर चिन्तन पिछड़ गया है। यह आत्मघात की स्थिति है जैसा कि कहा गया है—

"तुम चैतन्य तत्त्व की किरण हो और वह चैतन्य तत्व का किरण माली सूर्य है। अंश का अंशी होता है। तुम्हारे सार तत्व का भी अंशी है— वही ईश्वर है। उसके अस्तित्व में नास्तिक भाव लाना अर्थात् अपने अस्तित्व में नास्तिक भाव लाना आत्मघात है।"

धर्म और विज्ञान के सत्य तक पहुँचने के लिए जाँच की आवश्यकता है। इसीलिए सच्चे धर्म और सच्चे विज्ञान में विरोध नहीं है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धार्मिक प्रगति के साथ-साथ विज्ञान की प्रगति भी होती रही। जब धर्म का पतन हुआ, विज्ञान का भी पतन हुआ। प्राचीन काल में भारत के वैज्ञानिक ऋषि और मुनि कहलाते थे, जैसे—चरक, कणाद और भरत आदि। इनका मत था कि एक ही सत्य विविध रूपों में दीखता है, पाश्चात्य देशों में जब धर्म का पतन हुआ, तब वैज्ञानिकों को फाँसी दी गयी। यह सब वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव के कारण एवं अन्धविश्वासों के कारण ही हुआ। सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत तो एक ही है, उसकी धाराएँ भिन्न-भिन्न हैं। अत: जो विषय जिस ज्ञान धारा से सम्बन्धित है उसी में उसे खोजना पड़ेगा। अतीन्द्रिय विषयों का प्रमाण धर्म में है, भौतिक विषयों की जानकारी वेद आदि धार्मिक ग्रन्थों से नहीं हो सकती। उसके लिए उन्हीं विशिष्ट विषयों का अध्ययन करना होगा। इस प्रकार धर्म का विज्ञान से विरोध नहीं है। वह भौतिक और मानसिक विज्ञान को परिपूर्णता प्रदान करने वाला आत्म विज्ञान है।

परम गुरु साहबजी महाराज ने भी विज्ञान, दर्शन एवं धर्म का उद्देश्य समान मानते हुए इसमें समन्वय स्थापित किया है। इनके निम्न शब्द इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं—

"Providence has located within the human body a special spiritual faculty.......when that faculty is developed in us like our physical, and mental faculties, we shall be able to perceive Truth and realise Ultimate Reality in the same manner as we now perceive and realise the Sun with our physical eyes, and when this take place, you will be both astonished and amused to find that truth—the goal of science, Ultimate reality—the goal of philosophy and God—the goal of Religion, are but three names of the same Supreme essence."

अर्थात् परमपिता परमात्मा ने प्राणिमात्र के अन्दर विशेष आध्यात्मिक शक्ति स्थापित की है। यह शक्ति हमारे अन्दर उसी प्रकार विकसित होती है जैसे कि मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ। जब हम इस दशा को पहुँच जाते हैं, तब हम उस परम सत्य का साक्षात्कार इस प्रकार कर सकते हैं जैसे नेत्रों से सूर्य को देख रहे हों। तब यह जानकर आश्चर्य होगा और हर्ष भी कि जो सत्य विज्ञान का लक्ष्य है, और जो तत्व दार्शनिकों का ध्येय है और जो ईश्वर धर्म का प्राप्य है, ये सब एक ही परम सत्ता के तीन नाम हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विज्ञान, दर्शन एवं धर्म का लक्ष्य एक ही सत्य की प्राप्ति करना है अत: इन तीनों में समन्वय है, विरोध नहीं।

2

धर्म का इतिहास व सिद्धान्त

पूर्वैतिहासिक धर्म

एक समय था जब पृथ्वी पर मानव की दशा एक नवजात शिशु के समान थी। वह अपनी मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों के विषय में पूर्णत: अनभिज्ञ था, अतएव पूरी तरह प्राकृतिक शक्तियों की कृपा पर निर्भर था। उसकी इच्छाओं एवं मालिक की कार्यविधि में कोई सामंजस्य नहीं था। वह अपने को प्राकृतिक शक्तियों की प्रतिक्रियाओं के बीच पूर्णतया असहाय पाता है। अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि से फसलों का नष्ट हो जाना, प्रिय जनों का रोगी होना तथा मर जाना जैसी घटनाओं ने उसे पुत्र की भाँति पिता पर निर्भर रहने अर्थात् अपने से अधिक शक्तिशाली परम शक्ति पर निर्भर रहने व उसके विषय में सोचने पर बाध्य किया। इसी कारण धर्म के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धर्म मानव की एक व्यावहारिकग्या स्वाभाविक आवश्यकता रही है।

पूर्वैतिहासिक धर्म के स्रोत

पूर्व ऐतिहासिक धर्म के विभिन्न रूप जो पुरातत्त्वशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों अथवा मानवशास्त्रियों ने ज्ञात किये हैं, उनके सूत्र हमको उत्खनन, पूर्वैतिहासिक गुफाओं से प्राप्त चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला तथा आदि मानव के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न संस्कारों, कल्पित कथाओं और आधुनिक विश्व से दूर पर्वत शृंखलाओं तथा वनों में रहने वाले आदिवासियों के जीवन के अध्ययन से प्राप्त हुए हैं। ये आदिम जातियाँ आज भी सभ्य कहे जाने वाले समाज से अपने को सर्वथा पृथक् रखकर स्वयं ही असभ्य कहे जाने वाले जीवन में केन्द्रित हैं तथा अपने धार्मिक विश्वासों के कारण अपनी ही पूजा पद्धति अपनाये हुए हैं।

पूर्व ऐतिहासिक धर्म से तात्पर्य प्रारम्भिक धर्म से है। इसका अभिप्राय विकास का अभाव, हीनता, अनैतिकता अथवा पाशविकता से कदापि नहीं वरन् केवल इतना ही है कि पूर्व ऐतिहासिक मानव का तकनीकी ज्ञान विकसित न था। परन्तु उनकी धर्म व्यवस्थाएँ समाज-विशेष के सब सदस्यों द्वारा सामाजिक सुव्यवस्था के लिए आवश्यक तथा निकटस्थ पर्यावरण के प्रति अनुकूलन के लिए समर्थ मानी जाती थीं।

मैक्समूलर ने धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के विज्ञान का पता लगाया और बताया कि धर्म मानव स्वभाव का विशिष्ट अंग है जिसको आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा दार्शनिक

धारणाओं से नहीं घटाया जा सकता। इसीलिए मैक्समूलर को धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन का पिता कहा जाता है।

एडवर्ड बर्नेट टेलर (1823-1917 ई.) ने धर्म के प्रारम्भ की खोज का प्रयास किया। उसने ऑगस्ट काम्टे के धार्मिक विकास के सिद्धान्त का अध्ययन किया और बताया कि धर्म का उदय आदि मानव द्वारा अपने सरल तर्क पर आधारित निम्न दो प्रश्नों का उत्तर था। ये प्रश्न थे—

(1) जीवित और मृत व्यक्ति में क्या अन्तर है ?

(2) वह रूप क्या है जो मानव को स्वप्न में दिखाई पड़ता है ?

जीववाद एवं आत्मवाद

आदि मानव की कल्पना थी कि आत्मा या रूह (Spirit) मृत्यु होने पर स्थायी रूप से शरीर त्याग देती है और भूत या प्रेत के रूप में रहती है। यह आत्मा जीवन देने वाली है। आत्मा वह सार तत्त्व है जिसके बिना शरीर सड़ जाता है। इस सिद्धान्त को 'जीववाद' कहते हैं। इसके अनुसार विश्वास है कि जगत की प्रत्येक वस्तु में जीव या आत्मा निवास करती है। अत: आत्मा के विचार को प्रस्तुत करके इस सिद्धान्त ने धर्म विकास में योगदान दिया है। जीववाद का ही विकसित रूप आत्मवाद (Animism) है। आत्मावाद के अनुसार समस्त विश्व आत्माओं से भरा है जिनकी संख्या अनन्त है। वायु, जल, अग्नि, पर्वत, वृक्ष, नदी सभी में आत्माओं का निवास है। जीववाद में आत्मा वस्तुओं पर आश्रित है। आत्मावाद में उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। इसी कारण आत्मावाद के अनुसार मृत्यु हो जाने पर आत्मा शरीर से अलग होकर प्रेत के रूप में निवास करती है तथा जीवित प्राणियों को सुख-दुख, हर्ष-वेदना भी पहुँचाती है।

इससे कुछ अर्थपूर्ण परिणाम सामने आते हैं, अर्थात् स्थूल शरीर छोड़ने पर आत्मा (सुरत) सर्वप्रथम एक सूक्ष्म शरीर धारण करती है और उस सूक्ष्म शरीर में रहते हुए जीव के अन्दर राग व द्वेष थोड़े बहुत बने रहते हैं। यहाँ तक कि सूक्ष्म शरीर का रूप व रंग भी स्थूल शरीर के रूप व रंग से मिलता-जुलता है। इन परिणामों से यह स्पष्ट होता है कि स्थूल शरीर से छुटकारा पाने पर भी जीव का उस मानसिक प्रपंच से छुटकारा नहीं हो जाता जिसके कारण उसको सुख-दु:ख भोगना पड़ता है, अर्थात् स्थूल शरीर के छूटने पर वे सब कारण बने रहते हैं जिनकी वजह से मन के बंधन पैदा होते हैं। अत: स्पष्ट है कि इन बंधनों अर्थात् राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि सांसारिक वासनाओं ही के कारण सुरत (आत्मा) को इस स्थूल मण्डल में उतरकर स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है। इस व्याख्या से दो स्पष्ट परिणाम सामने आते हैं—

(1) स्थूल देह छूट जाने पर भी प्रेत योनि में जीव को स्थूल देहधारियों की भाँति ही दु:ख-सुख भोगने पड़ते हैं।

(2) शरीर की मृत्यु होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता।

इस सिद्धान्त ने अपने विचार को यहाँ तक विस्तार दिया है कि जीव, जन्तु, पौधे आदि के अतिरिक्त देखने में जड़ पत्थरों में भी आत्मा होती है और यह स्वप्नों में दिखाई पड़ती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्राकृतिक घटनाएँ, जैसे—भूकम्प, ज्वार-भाटा आदि भी प्रकृति की आत्मा द्वारा उत्पन्न होते हैं। यही प्रकृति की अवतारवादी आत्माओं की पूजा का आधार है जिसको भारत में प्रकृति पूजा के रूप में स्वीकारा गया है। वेदों में भी इसका वर्णन मिलता है। अत: पूर्व ऐतिहासिक विश्वास और संस्कार आदि, आदिमानव की तर्क शक्ति का ही परिणाम हैं।

धर्म के विकास की अवस्थाएँ

काम्टे के अनुसार धर्म के विकास की तीन अवस्थाएँ हैं—(1) बर्बरता की प्रथम अवस्था में आदिमानव के समाज, प्रकृति तथा नैतिकता सम्बन्धी विचारों पर भूत-प्रेतों का ही विश्वास प्रभावी था क्योंकि इस प्रारम्भिक अवस्था में उसका धर्म भय से प्रेरित था। उसके मृत्यु संस्कार विधि के आधार पर अनुमान लगाया गया कि वह मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता था। इसी विश्वास से यह कल्पना की गई कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अच्छे या बुरे कर्मों के आधार पर न्याय होता है। इस न्याय का आधार था कि शरीर में रहते हुए मानव आत्मा ने महान् आत्माओं की पूजा की अथवा नहीं।

मानव के धर्म के विकास की दूसरी अवस्था 'बहुदेववाद' सम्बन्धी थी। विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों पर नियन्त्रण रखने वाले देवताओं की कल्पना से बहुदेववाद का प्रारम्भ हुआ।

धर्म की तीसरी सभ्य अवस्था में एकेश्वरवाद का उदय हुआ जिसके अनुसार एक परम सत्ता ही सृष्टि की रचयिता, संचालक तथा प्राकृतिक नियमों की आश्रयदाता स्वीकार की गई। यह एकेश्वरवाद की धारणा आज की वैज्ञानिक धारणा में स्वीकृत है। परन्तु इसकी मान्यता आदि काल के विश्वासों में न थी। फिर भी उन विश्वासों को आज के धार्मिक विश्वासों में स्थान प्राप्त है जो ऐतिहासिक विकास या पौराणिक कथाओं के रूप में मिलते हैं।

जार्ज फ्रेजर धार्मिक तथ्यों की खोज में टेलर से सहमत हैं कि धर्म का विकास आदि मानव द्वारा जीवन के विशिष्ट मौलिक प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने के प्रयासों का परिणाम था। फ्रेजर के अनुसार धार्मिकता के काल से पूर्व जादू-टोने का काल था। इस काल में आदि मानव की कार्य प्रणाली असभ्य थी जिसके आधार पर उसके परवर्ती धार्मिक सिद्धान्त विकसित हुए।

जादू-टोने की अवस्था

फ्रेजर के अनुसार इस युग में मानव ने दो नियम ढूँढ़ निकाले जिसके द्वारा वह घटनाओं पर नियन्त्रण कर सकता था। पहला समानता का नियम—जिसके अनुसार यथा से यथा उत्पन्न होता है। इसी से टोने, जादुई संस्कार आदि विकसित हुए। दूसरा नियम छूत का था—जिसके अनुसार दो तत्वों के परस्पर मिलने से वे एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। चाहे वे बाद में पृथक् हो जायें। यह काले जादू के संस्कारों का काल था जिसमें किसी व्यक्ति पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए उसकी उँगलियों के नाखूनों को जलाना या व्यक्ति के किसी अंग को काटा जाता था। इस युग में मानव का विश्वास था कि प्राकृतिक घटनाओं को इच्छानुसार दिशा प्रदान की जा सकती है।

फेटिशवाद

इसी जादू-टोने की जड़-पूजा या वस्तु पूजा को फेटिशवाद (Fetishism) कहते हैं। इसके अनुसार ताबीज, जादू-टोने में विश्वास किया जाता था, अर्थात् आत्मा को किसी वस्तु से बाँधकर उस पर नियन्त्रण रखा जाता था। इस धर्म में विचित्र रंग या बनावट के पत्थर, विचित्र आकार के वृक्ष या शाखा या जड़ पदार्थ, पशुओं के पंजे, दाँत, चमड़ा, पंख, मृत मनुष्य की हड्डी आदि या कोई साधारण वस्तु को शक्ति से भरा हुआ मान लिया जाता था। फेटिश जंगली जातियों का देवता था परन्तु इसमें तथा मूर्तियों में अन्तर है! मूर्ति साकार परन्तु रहस्यात्मक अथवा जादुई शक्ति रहित होती है। फेटिश (Fetish) में ऐसी शक्ति होती है कि लोग उससे भय खाते हैं कि कहीं उसके सम्पर्क से अनिष्ट न हो जाय।

टैबू

बहिष्कृत (Taboo)—यह आदिम धर्म की एक और विशिष्टता है। इसके दो रूप हैं—

1. पवित्र अर्थात् समर्पित वस्तु—आज भी कई लोग अपने मन पर संयम रखते हुए गंगा जी में खड़े होकर अपनी सबसे प्रिय वस्तु या खाने का पदार्थ समर्पित कर आते हैं और फिर कभी उसका इस्तेमाल नहीं करते। 2. अद्भुत तथा खतरनाक वस्तु—साधारणतया इसका अर्थ निषेध एवं प्रतिबन्ध ही माना जाता है। टैबू में छूत या संक्रामकता का तत्त्व है अर्थात् यह संक्रामक रोग जैसा है। ऐसा विश्वास था कि जो कोई या जो कुछ टैबू व्यक्ति या वस्तु के संसर्ग में आ जाता है, वह उतना ही भयंकर हो जाता है जितना कि मूल टैबू व्यक्ति या वस्तु। टैबू कई प्रकार के होते हैं, 'स्थाई टैबू'—कबीले के मुखिया या पुरोहित होते हैं या मृत व्यक्ति और उससे सम्बन्धित वस्तुएँ होती हैं। 'अस्थाई टैबू'—स्त्रियों के मासिक धर्म या प्रसव का समय, योद्धाओं के अभियान के पूर्व या बाद के समय आदि। कुछ टैबू विशेष वस्तुओं से सम्बन्धित होते हैं, जैसे शव, मानव रक्त, बलि-वस्तु आदि। कई विद्वानों के अनुसार टैबू में विश्वास धर्म शुद्धता और पवित्रता का स्रोत है।

इसी युग में धीरे-धीरे धर्म का युग विकसित हुआ। आदि काल के जादू-टोने में शंका उत्पन्न होने से अब चमत्कारिक शक्तियों में विश्वास होने लगा। यही मानव के आदि देवता हुए जिनकी वह पूजा किया करता था।

मेलीनोवस्की के अनुसार जादू में विश्वास प्राकृतिक शक्तियों के निरीक्षण का परिणाम नहीं वरन् उसके समक्ष मानव की अपनी निर्बलता या असहायता थी जिस कारण इन जादुई क्रियाओं से सम्बन्धित कल्पित कथाएँ प्रचलित हो गई। उनका विचार था कि धर्म काल्पनिक कथाओं के माध्यम से सामाजिक नियन्त्रण का एक ढंग है जिससे जीवन दर्शन प्राप्त होता है। इस प्रकार धर्म आचरण का आदर्श प्रस्तुत करता है, विश्वासों को स्पष्ट करता है और पूजा पद्धति प्रदान करता है।

जादू एक विशिष्ट क्रिया पर केन्द्रित होता है जबकि धर्म का विस्तृत सामाजिक प्रभाव होता है जो एक गुप्त महाशक्ति में विश्वास पर आधारित होता है। जादू सामान्यत: स्वार्थ तथा अशुद्धि से पूरित होता है जबकि धर्म का उद्देश्य इसके विपरीत होता है। अत: एडोल्फ-ई-जैनसन के अनुसार जादू तब उत्पन्न होता है जबकि कोई संस्कृति अपने ऐतिहासिक आधार को भूल जाती है।

फ्रेजर ने टोटम और टैबू के विचार को भी धर्म के अध्ययन के अन्तर्गत स्थान दिया। टोटम एक जन्तु देवता होता है जो किसी जाति या वंश का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु टैबू रूढ़िवादी निषेधाज्ञा है। फ्रेजर ने कई देवताओं का वर्णन किया है जिनका उत्थान-पतन काल्पनिक कथाओं में मिलता है।

ऊर्जावाद या मनावाद—यह आदिम धर्म का एक और विशिष्ट प्रकार है। 'मना' एक ऐसी शक्ति है जो शारीरिक या भौतिक बल से नितान्त भिन्न है। यह शक्ति सब प्रकार के शुभ-अशुभ कार्यों में सक्रिय रहती है अत: इस शक्ति पर अधिकार या नियन्त्रण होना सर्वाधिक लाभ की बात मानी जाती थी। यह विचित्र ऊर्जा किसी मनुष्य या वस्तु में रह सकती है और एक वस्तु या व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या वस्तु में संचालित होने की क्षमता रखती है। इस प्रकार के संचार से बचने के लिए आदिम समाज में कुछ नियम होते हैं, जैसे—नवजात शिशु के कान छूना,

मृत व्यक्ति या विशेष जीवित व्यक्ति के स्पर्श से बचना आदि। भारत में 'हो' जाति में मना के समान रहस्यमय ऊर्जा को 'बोंगा' कहते हैं।

आदिम धर्म में भूत निकालने को भी महत्व दिया जाता था। बलिदान प्राय: रक्तदान के रूप में भी प्रचलित था। इन क्रियाओं को करने वाले 'ओझा' कहलाते थे।

धर्म की व्याख्या में काल्पनिक कथाओं का महत्व

ऐण्ड्रीलैंग ने आस्ट्रेलिया के आदिवासियों ने महादेवता के विषय में बहुत कुछ जानकारी ढूँढ़ी थी। जैसे ही आदि मानव ने हथियार बनाने प्रारम्भ किये, उसके मन में प्रश्न उठा, "मेरा बनाने वाला कौन है ?" कौन संसार की अच्छी-अच्छी चीजें बनाता है ?" इन प्रश्नों के उत्तरस्वरूप उसका विश्वास उस देवता में हुआ जो सबका पिता है। वह नैतिक है और सृष्टा है जिसकी पूजा वह भय और आज्ञाकारिता से करता था। लैंग ने युक्तिसंगत धर्म और असभ्य पौराणिक कथाओं में भेद किया है। मिथक (Myths) या पौराणिक कथाएँ, आत्माओं की भ्रमण कथाएँ हैं जो मानव ने जोश में अनैतिक और तर्कहीन भाव से व्यक्त कीं। ऐसी काल्पनिक कथाओं ने सत्य सृष्टि कर्ता में अविश्वास उत्पन्न करने में सहायता दी। इसके विपरीत, वाच (Wach) के अनुसार मिथक्क (Myths) काल्पनिक कथाएँ नहीं वरन् वे वर्णन हैं जिसमें आदिम मानव ने अपनी जीवन पद्धति एवं विश्वासों को व्यक्त किया है। सभ्य मानव बुद्धिमत्ता के सिद्धान्तों के आधार पर उन प्रश्नों के उत्तर देता है जिनको आदिम मानव् ने काल्पनिक कथाओं के रूप में व्यक्त किया है अर्थात् मैं कौन हूँ ? सृष्टा से मेरा क्या सम्बन्ध है ? सत्य क्या है ? आदि-आदि। इस प्रकार आधुनिक मत और काल्पनिक कथाएँ एक ही उद्देश्य के पूरक हैं।

ऐसी अवस्था में हम विकासवादी सिद्धान्त द्वारा आध्यात्मिकता का विकास बहुदेववाद से आधुनिक एकेश्वरवादी के रूप में जान सकते हैं। फादर विल्हैम रिमंट का लैंग की भाँति विश्वास था कि मानव द्वारा संसार की उत्पत्ति का कारण ढूँढ़ने से सृष्टि कर्ता में स्वयं ही विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह परम शक्ति मानव की स्थायी समाज की आवश्यकता को पूर्ण करती थी। साथ ही न्याय, समय और स्थान की एकता की धारणा और सार्वजनिक आभार की आवश्यकता, प्रेम और विश्वास की आवश्यकता को भी पूर्ण करती थी। इस एक ईश्वर की पुरोहित बलि द्वारा पूजा करते थे। परन्तु जब यह विचार भावात्मक कल्पना में परिवर्तित हुए तो इसका रूप जादू तथा बहुदेववादी आध्यात्मिकता हो गया। इस प्रकार फादर और लैंग ने आदिवासयों में परम सत्ता में विश्वास होने पर बल दिया है।

धर्म गुप्त अनुभव है

रूडोल्फ ओटो के अनुसार धर्म का उदय गुप्त अनुभवों से हुआ। धार्मिक अनुभव भावना थी जो तर्क, मानसिक विकास तथा स्पर्श ज्ञान से सम्बन्धित नहीं थी। यह मानव की आत्मा से उत्पन्न होती है जो साधारण इन्द्रियों से स्वतन्त्र है। इस अनुभूति का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह वर्णनातीत है। ईश्वर के न्याय, शक्ति, प्रेम भावों से ही मानव उसकी ओर आकर्षित होता है जिससे ईश्वरीय कृपा और मुक्ति के सिद्धान्त का विकास हुआ।

मर्सी ईलियड के अनुसार धर्म की पवित्रता शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र आदि के माध्यम से समझी जा सकती है क्योंकि धर्म पर मानव का पूर्ण अस्तित्व केन्द्रित है, परन्तु यह धार्मिक अनुभव किसी वस्तु या धार्मिक चिन्ह में प्रकट होता है और इस चिन्ह के कई अर्थ

हैं—1. यह पवित्र होता है। धार्मिक व्यक्ति उसमें विशेष शक्ति देखता है और इसकी पूजा करता है। 2. यह चिन्ह कई तत्व प्रकट करता है जिनसे जीवन अर्थपूर्ण अस्तित्व की ओर केन्द्रित हो उठता है। **मर्सी ईलियड** के अनुसार पौराणिक कथाएँ भी धार्मिक चिह्न हैं जो लिखित रूप में होती हैं। इन्हीं कथाओं द्वारा मानव पवित्र कार्य-कलापों में भाग लेता है। आधुनिक मानव ने धार्मिक होने की सम्भावनाओं से अपने को वंचित कर लिया है क्योंकि उसके लिए कथाएँ मात्र काल्पनिक हैं।

ऑन्थोनी वालेस के अनुसार धर्म कर्मकाण्ड है जिसके द्वारा मानव अथवा प्रकृति में परिवर्तन लाया या रोका जा सकता है। इसी कर्मकाण्ड की तर्कसंगतता पौराणिक कथाओं में वर्णित अलौकिक शक्तियों से स्पष्ट की जाती है। धार्मिक आचार व्यवहार बहुत प्रकार का होता है। इसमें ये पन्द्रह कर्म मुख्य हैं—1. **प्रार्थना**—परमात्मा के सामने निवेदन। 2. **संगीत**—नृत्य, गायन, वाद्य तथा कीर्तन। 3. **शारीरिक क्रियाएँ**—योग, तप आदि। 4. **प्रबोधन**—दूसरों से परम सत्ता के रूप में निवेदन करना। 5. **कथा बाँचना**। 6. **स्वांग** या पाखण्ड। 7. मना अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति पूरित वस्तुओं को छूना। 8. टैबू-प्रतिबन्ध। 9. धर्मिक भोज। 10. बलि। 11. धार्मिक सभाएँ आदि। 12. देवी प्रेरणा—प्रेरितावस्था अनुभूति देवी या भूत धारण करना। 13. चिन्ह की पूजा। 14. गाकर धर्म ज्ञान का विस्तार व प्रचार करना। 15. धार्मिक मूल्यों को लौकिक कार्यों पर लागू करना।

पूर्व ऐतिहासिक धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप

1. मृत-संस्कार—विभिन्न धर्मों में मृतक संस्कार की विभिन्न विधियाँ हैं। मृतक से रक्त सम्बन्ध होने के कारण बहुत स्वाभाविक है कि पारिवारिक जनों का उसके प्रति प्यार एवं आदर हो, साथ ही मृतक की आत्मा पृथक् हो जाने से भय की भावना उत्पन्न हो। अत: जीवन में उसकी प्रिय वस्तुएँ या आवश्यकता की वस्तुएँ वे शव के साथ गाड़ देते रहे होंगे। शायद, इस विचार से कि मृतक की आत्मा संतुष्ट रहे और उसको दु:ख व वेदना न पहुँचे, अथवा वह प्रसन्न रहकर उनकी सुख-समृद्धि में सहायक रहे। इस संस्कार से स्पष्टत: उनका मृत्यु के उपरान्त जीवन में विश्वास व्यक्त होता है। मिस्र के पिरामिड्स बेबीलोन, ईरान आदि के प्राचीनतम कब्रिस्तान इसके प्रमाण हैं। भारत में सिन्धु घाटी के हड़प्पा नगर में 57 कब्रें ऐसी ही मिली हैं जिनमें शव का सर उत्तर तथा पैर दक्षिण दिशा की ओर रखकर गाड़ा गया है। शव के ऊपर हार, अंगूठी, पायल व चूड़ी आदि गड़ी मिली हैं। किसी-किसी में शृंगार प्रसाधन भी मिले हैं। एक कब्र में एक लड़की के कफन में रखे शव के साथ 37 मिट्टी के बर्तन मिले हैं जो शायद उसकी सम्पत्ति रही हो। कुछ शवों की हड्डियाँ विचित्र कलश में रखकर समाधि बना दी गई। ऐसे कलशों पर मोर, गाय, बैल आदि के चित्र बने हैं। कुछ पर पेड़ या सितारे भी विचित्र हैं। गुजरात में लोथल नामक स्थान पर दम्पत्ति की कब्रें मिली हैं जिससे अनुमान होता है कि उस समय सती प्रथा प्रचलित थी जो पुन: मध्य युग में भारत में प्रचलित हो गई। काश्मीर तथा दक्षिण में घरों में भी कब्रें मिली हैं। वैदिक युग में शव को गाड़ने की प्रथा तो प्रचलित थी ही, साथ ही दाह संस्कार की प्रथा भी चली। अन्तत: दाह संस्कार लोकप्रिय हो गया।

2. आखेट संस्कार—पुरानी खोहों अथवा वन-प्रदेशों के पहाड़ी चट्टानों पर बने अनपढ़ चित्र या मूर्तियाँ जो अपने से अधिक शक्तिशाली आखेट पशु को वश में करने हेतु बनाई गई थीं, जादू-टोना का ही एक रूप है। इस विश्वास के अनुसार इस कार्यवाही द्वारा पशु की शक्ति आखेट

में संचारित हो जाती थी। निकट वर्तमान में भी मध्य प्रदेश की आखेटक जातियों में यह विश्वास देखा गया है। ये गुफाएँ जो मानव की कभी निवासस्थल रही होंगी, उनको यहाँ की आदिम जातियाँ देव मन्दिरों के रूप में पवित्र मानती हैं। ये आखेटक जातियाँ उन देवताओं की पूजा करती हैं जिनका सम्बन्ध आखेट की सफलता से फलों की प्रचुरता अथवा अन्य वन्य उपज से है।

3. पूर्वज पूजा—आज भी लंका की आदिम जातियों के धर्म का यह एक अंग है। यह वैदिक धर्म द्वारा भी मान्य थी।

4. प्रजनन संस्कार—जिसमें जन्म देने वाले अंगों की—लिंग एवं योनि का चिह्न बनाकर पूजा होती थी। यह चिह्न प्रायः आज भी मन्दिरों में स्थापित करके पूजा की जाती है। इसका सम्भावित उद्देश्य सृष्टि की रचना कर्तृ-शक्ति को ही परम शक्ति मान उसकी पूजा का विधान रहा हो। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन में अनेक ऐसी मातृ देवी की मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें प्रजनन अंगों को विशेष उभारा गया है। लिंग जैसे चिह्न भी प्राप्त हुए हैं। इससे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिन्धु निवासी परम शक्ति एवं परम पुरुष की पशुपतिनाथ एवं मातृ देवी के रूप में पूजा करते थे।

5. सार्वभौम व्योम पूजा—परम सत्ता का आभास महाशक्ति के रूप में ऊपर आकाश में कहीं सिंहासनारूढ़ रूप में किया गया क्योंकि वर्षा, सौर-ऊर्जा, प्रकाश, चाँद, तारे, बिजली की कड़कड़ाहट सब आकाश से ही प्रकट होते हैं। वर्षा, धूप, गर्मी आदि से पृथ्वी पर जीवन का संचार होता है जो वनस्पति तथा फसलों की उपज का महत्वपूर्ण साधन है। आर्य भी इन तत्वों की पूजा पंचतत्व और प्रकृति के रूप में करते थे। यह प्रकृति पूजा यूनान, इटली, मिस्र, बैबीलोन आदि में भी प्रचलित थी। यही बहुदेववाद का आधार है जिसको मानव ने अपनी भावानानुसार मूर्तियाँ बनाकर मूर्त रूप देने का प्रयास किया। यह मूर्ति पूजा सहस्त्रों वर्षों से न केवल भारत वरन् विश्व के बहुत-से देशों—ईरान, मैसोपोटामिया, अरब, मिस्र, यूनान आदि में प्रचलित थी।

मानव के धर्म की जो भी प्रारम्भिक रूपरेखा रही हो, उसके निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

1. धर्म पवित्रता एवं शुद्धता की भावना को प्रगट करता था जो विभिन्न माध्यमों, चिह्नों, मूर्तियों, आडम्बर, दर्शन, पौराणिक कथाओं आदि द्वारा व्यक्त की गई।
2. यह विश्वास था कि शरीर नश्वर है और आत्मा अमर, क्योंकि मृत्यु-पश्चात् शरीर सड़ जाता है, परन्तु आत्मा का आभास स्वप्नों आदि में होता रहता है।
3. आत्मा ही शरीर को जान देने वाला तत्व है।
4. शुभ कर्म से सुख व शान्ति तथा अशुभ से दुःख और वेदना होती है।
5. धर्म का प्रारम्भ मानव द्वारा अपने से महान तथा शक्तिशाली शक्तियों को मान्यता देने तथा अपनी शक्तिहीनता की भावना और उसके महान परम सत्ता पर निर्भरता की भावना से हुआ।
6. धर्म से मानव ने विज्ञान युग में प्रवेश लिया।
7. गुफाओं तथा पर्वतीय चट्टानों पर मिले अनपढ़ चित्रों तथा गाड़े गये मृतकों के साथ उनकी आवश्यकता की वस्तुओं व हथियारों आदि के गाड़ने की प्रथा से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ये लोग जीववाद के साथ-साथ पुनर्जन्म में भी विश्वास करते थे।

8. प्रारम्भिक मनुष्य वृक्षों तथा अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की आत्माओं या प्रेतों के अस्तित्व में भी विश्वास करता था।

इन विश्वासों का आभास तथा आदिम धर्म की अन्य विशिष्टताएँ आज भी हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों में जहाँ-तहाँ विद्यमान हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि धर्म का विकास समान रूप से विश्व के सभी भागों में नहीं हुआ। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जादू-टोने का काल पहले था, बहुदेववाद एवं एकेश्वरवाद बाद में क्रमशः विकसित हुए। जिस प्रकार सभ्यता एवं संस्कृति को विकास के किसी विशिष्ट स्थान एवं समय की गति में नहीं बाँधा जा सकता, उसी प्रकार धर्म के स्वरूप के विकास को भी किसी विशिष्ट कालक्रम में नहीं बाँटा जा सकता। धर्म मानव के बौद्धिक विकास के परिणामस्वरूप सृष्टि को समझने के प्रयास का प्रतिफल है जो कि धर्म के विकास की विभिन्न अवस्थाओं से ज्ञात होता है।

पूर्व वैदिक धर्म

भारत के पूर्व ऐतिहासिक काल के लोगों के बहुमुखी विश्वासों का ज्ञान हमको हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के उत्खननों से प्राप्त प्रतिमाओं, चित्रों और मुद्राओं आदि से होता है। उस काल में लोग अपने धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष लौकिक कार्यों में गहरा भेद नहीं मानते थे। उनके जीवन के अनेक व्यवहार और कार्य उनके धार्मिक विश्वासों से बँधे थे। हड़प्पा सभ्यता के धर्म के बहुत-से अंश वैदिक धर्म में घुल-मिल गये जिनका अनुमान ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से होता है। ये अंश आज भी हिन्दू, जैन व बौद्ध धर्म में पाये जाते हैं।

बिलोचिस्तान हड़प्पा आदि से प्राप्त बहुसंख्यक स्त्री प्रतिमाएँ—जो विभिन्न प्रकार से अलंकृत हैं, से अनुमान होता है कि सिन्धुवासी मातृ देवी की पूजा करते थे। मातृ शक्ति को अति उच्च स्थान देते थे, इसी कारण उनका समाज मातृ-सत्तात्मक था। वे मातृशक्ति को सृष्टि का आधार, संचालन एवं विनाश की शक्ति मानते थे। अतः उसकी पूजा आद्यः शक्ति के रूप में होती थी। अलंकारों से सुसज्जित ये देवी प्रतिमाएँ प्रायः सभी घरों से प्राप्त हुई हैं। परमेश्वर का नारी रूप-देवी, शक्ति, दुर्गा, प्रकृति, काली, चण्डी आदि की पूजा मातृ पूजा ही के तो प्रकार हैं। पाश्चात्य की देन वीनस, डायना आदि की पूजा भी इसी का ही तो अंग है।

सिन्धु निवासियों के धर्म का एक अंग या रूप ध्यान और योग भी था। कुछ पुरुष आकृतियाँ ध्यान और योग की मुद्रा में बैठे या खड़े पुरुषों की प्राप्त हुई हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राणायाम या साधना की धार्मिक विधि सिन्धु निवासियों को ज्ञात थी और वह उनके धर्म की अंग थी। एक मुद्रा में एक नग्न पुरुष पैरों के तलवों को परस्पर मिलाये पद्मासन में ध्यानमग्न बैठा है। इसके तीन चेहरे हैं। इस योगी के चारों ओर हाथी, गैंडा, भैंसा, सिंह, सांभर एवं हरिण आदि पशु भी बैठे हैं। **सर जॉन मार्शल** के अनुसार सम्भवतः यह पशुपति महादेव की मूर्ति है जिनको ये लोग शिव के नाम से पूजते होंगे। ऐसी ही छोटी-छोटी मूर्तियाँ मिली हैं जो सम्भवतः शिव का प्राचीनतम रूप है। पूर्व ऐतिहासिक काल के योग ने क्रमशः ऐतिहासिक युग में प्रवेश कर जैन धर्म, सांख्य, योग और वेदान्त दर्शनों को जन्म दिया।

खुदाई में कुछ छोटे-छोटे पत्थर भी मिले हैं जो लिंग तथा योनि के प्रतीक हैं, शिव उपासना में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्रविड़ पूजा पद्धति में लिंगकारों की प्राप्ति से सिद्ध होता है कि ये

लोग लिंग एवं योनि की पूजा करते थे। हिन्दू शिवालयों में आज भी शिव की सूक्ष्म प्रतिमा प्रायः लिंग के रूप में बनायी तथा पूजी जाती है। कहा जा सकता है कि शैव धर्म की उत्पत्ति इसी काल में सिन्धु क्षेत्र में हुई।

सिन्धु निवासी बहुदेववादी प्रतीत होते हैं। उनकी मुद्राओं पर अंकित हाथी, बैल, भैंसा, मेढ़ा, बकरा, बाघ आदि की प्रतिमाएँ मिलती हैं। वे लोग मकर की पूजा सम्भवतः नदी के देवता के रूप में, भैंसा की मृत्यु-देवता के रूप में तथा बकरा, मेढ़ा आदि की बलि पशु के रूप में करते होंगे। आरम्भ में ये पशु देवता थे परन्तु ऐतिहासिक काल में अर्थात् वैदिक तथा ब्राह्मणकाल में देवताओं के वाहन के रूप में पूजे जाने लगे।

वृक्ष पूजा—कुछ मुद्राओं पर देवी-देवताओं के साथ-साथ वृक्षों को अंकित किया गया है जिनमें विशेष पीपल व नीम के वृक्ष हैं। पीपल की पूजा आज भी बौद्ध धर्म में विशेष मान्यता रखती है और विशिष्ट अवसरों पर प्राचीन-विचारधारा की हिन्दू स्त्रियाँ पीपल पूजा करती हैं।

नाग पूजा—नाग पूजा भी उनके धर्म का एक अंग प्रतीत होती है। एक मुद्रा पर देवी की प्रतिमा के पास पूजा करने वालों के साथ-साथ नागों की आकृतियाँ अंकित हैं। एक मुद्रा पर सर्प को कटोरे में दूध पिलाते हुए आकृति दृष्टिगोचर होती है। एक अन्य मुद्रा पर दो नाग एक योगी की रक्षा-मुद्रा में दिखाये गये हैं। इससे उनका नाग पूजा में विश्वास प्रकट होता है।

सूर्योपासना—कुछ प्रतिमाओं के मध्य में एक चक्र से किरण-सी निकलती हुई दर्शायी गई है। इससे उनकी सूर्योपासना का आभास होता है। कतिपय मुद्राओं से उनकी अग्नि पूजा एवं बलि पूजा का भी अनुमान होता है। स्वास्तिक चिन्ह इनकी मुद्राओं पर अंकित पाया गया है जो आज भी जैनों-वैष्णवों का पवित्र चिह्न एवं व्यापारियों का शुभ-चिह्न माना जाता है।

जादू-टोना व ताबीज—बड़ी संख्या में प्राप्त चाँदी, ताँबे व मिट्टी के ताबीजों से पता चलता है कि अनिष्ट निवारण के लिए ये लोग जादू-टोना, गंडे-ताबीजों में भी विश्वास रखते थे।

जल पूजा—नगर में सार्वजनिक स्नानगृह के अतिरिक्त जहाँ-तहाँ स्नानगृह भी मिले हैं जो जल के महत्व को प्रकट करते हैं। जल स्वच्छता, स्वास्थ्य एवं पवित्रता का साधन माना जाता था। अतः वहाँ जल व नदी की पूजा होती थी जिसे बाद में न केवल हिन्दू धर्म में वरन् ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों में भी बहुत मान्यता प्राप्त हुई।

पुरातत्त्व शास्त्रियों के अनुसार मोहनजोदड़ो के उत्खननों से प्राप्त कुछ भवन पूजागृह ही थे। सार्वजनिक स्नानगृह सम्भवतः एक पवित्र सरोवर था जहाँ पवित्र स्नान किया जाता था। पंक्तिबद्ध मनुष्यों की आकृतियाँ वृक्षों के अवयवों के रूप में चित्रित मिली हैं जिससे स्पष्ट होता है कि वृक्ष किसी मनोभाव अथवा पदार्थ के प्रतीक थे। एक मुद्रा में एक वृक्ष के सामने सात मनुष्यों की आकृतियाँ कदाचित् इस काल के बाद उदय हुए हिन्दू और बौद्ध धर्म की पौराणिक कथाओं में वर्णित सप्त ऋषियों का पूर्व रूप रहा होगा। इससे उन सात माताओं की ओर संकेत मिलता है जिनकी पूजा शताब्दियों तक साधारण जनता अन्य देवी-देवताओं के साथ-साथ करती रही।

सिन्धु घाटी का समाज दोनों प्रकार से मृतक संस्कार करता था। इस मृतक संस्कार प्रणाली से अनुमान होता है कि इन लोगों का विश्वास पारलौकिक जीवन तथा पुनर्जन्म में भी था।

द्विदेववाद—इस युग के धार्मिक जीवन में अनेक विशेषताओं के दर्शन होते हैं। वे द्विदेव में विश्वास करते थे क्योंकि वे नारी तथा पुरुष को ईश्वर की सृष्टि का प्रतीक मानते थे। उनका धार्मिक जीवन स्वच्छ, पवित्र तथा निश्चित था। देवताओं को मानवीय गुणों से युक्त मानकर उनकी उपासना की जाती थी। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन धार्मिक विश्वासों में मानव तथा देवता में गहरा सम्बन्ध था जो ऋग्वैदिक काल में अधिक उभरकर सामने आया।

बलि प्रथा—मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुहर पर बकरे के समीप तेज धार वाले हथियार का अंकन तथा हड़प्पा में एक स्थान पर बकरे, बैल तथा भेड़ों के बहुत से अस्थिपंजर प्राप्त होना यह संकेत करता है कि उपास्य देव को प्रसन्न करने हेतु बलि पूजा का प्रचलन था। यह बलि पूजा इसके बाद वैदिककालीन पूजा का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गई।

इस युग के लोगों की आस्था योग-चिन्तन के अतिरिक्त सरकार देवी-देवताओं में अधिक थी जो बहुसंख्यक मूर्तियों एवं अंकित चित्रों से प्रमाणित होता है। मूर्ति पूजा का यह विधान वैदिक काल से ब्राह्मण काल और तत्पश्चात् विकसित होता हुआ वर्तमान भारत में मान्य है। मूर्ति पूजा तत्कालीन पश्चिमी एशिया के देशों मैसोपोटेमिया, ईरान, अरब तथा मिस्र और यूनान आदि में भी प्रचलित थी।

इनका धार्मिक जीवन लौकिक जीवन का एक अभिन्न अंग होते हुए भी शुद्ध, पवित्र तथा स्वच्छ था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग धार्मिक विश्वासानुसार स्नानादि भी करते थे। वातावरण की शुद्धता एवं पवित्रता हेतु सुगन्धित सामग्री धूपादि भी जलाते थे। इसके प्रमाण अलंकृत दीपक तथा स्तम्भों के शीर्ष में दीप तथा नीचे अग्नि प्रज्वलित करने वाले चिह्न हैं।

सैन्धव उपासना विधि में सम्भवतः अनेक अनुष्ठानों, मनोरंजनों एवं क्रियाओं का आयोजन होता था जो प्राप्त मूर्तियों पर अंकित तथा चित्रित नृत्य, संगीत एवं वादन के दृश्यों से प्रमाणित होता है। उनका धर्म केवल विश्वास तथा आस्था पर निर्भर था। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये बहुदेववादी होते हुए एकेश्वरवादी भी थे जैसा कि उनके परम पुरुष और मातृ देवी की उपासना से प्रकट होता है। अतः हम कह सकते हैं कि सिन्धु घाटी का धार्मिक जीवन मुख्यतः इसी भूमि की उपज था और भारतीय धार्मिक चेतना का पूर्व रूप था।

3

वैदिक धर्म

हिन्दू धर्म के प्राचीनतम लिपिबद्ध आदि स्रोत वेद हैं। कहा जाता है कि "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" अर्थात् वेद समस्त धर्म के मूल हैं और वेदों से नि:सृत धर्म ही वैदिक धर्म है। आज जिसे हम हिन्दू धर्म या सनातन धर्म के नाम से जानते हैं, उसी का प्रारम्भिक नाम वैदिक धर्म है। वैदिक धर्म वह मूल है जिससे हिन्दू धर्म की विविध शाखाएँ एवं प्रतिशाखाएँ विकसित हुई हैं। धार्मिक दृष्टि से वेदों में ऋग्वेद का अधिक महत्त्व है क्योंकि इसकी ऋचाओं में व्यक्त भावों एवं विचारों से उस समय में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं एवं विचारों को जाना जाता है।

वैदिक धर्म को समझने के लिए इस काल को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) संहिता काल, (2) ब्राह्मण काल, (3) आरण्यक एवं उपनिषद् काल।

संहिता काल

इस काल में मानव का प्रकृति से निकट का सम्बन्ध था। यदि कहीं वह सुरम्य उषा, उदयमान सूर्य, चारु चन्द्र एवं तारों की मनोहारिता पर मुग्ध हुआ तो कहीं बिजली की कड़क, मेघों की गर्जन और झंझावात आदि भीषण दृश्यों को देखकर भयभीत हुआ। अस्तु, उसने मनोहर एवं भीषण सभी प्राकृतिक दृश्यों में देवत्व की कल्पना कर ली और उनसे अपनी सुरक्षा, समृद्धि एवं सुख की कामना करने लगा। परिणामस्वरूप द्यावा-पृथ्वी, नदी, पर्जन्य आदि सबकी स्तुति दिव्य-शक्ति के रूप में की गई। ऋग्वेद में इन विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों की स्तुतियाँ विभिन्न नामों से मिलती है। इन्द्र, यम, वरुण, मित्र, सोम, सक्ति, अग्नि आदि सब में देवतत्त्व की स्थापना हुई और यह बहुरूपों में प्रकृति पूजा ही वैदिक धर्म का प्रारम्भिक रूप था। वे प्रकृति के रहस्यमय तत्त्व की उपासना करते थे।

वैदिक देवता—इस काल में प्रकृति की एक ही शक्ति की पूजा विभिन्न नामों से भी उपलब्ध है, जैसे सूर्य की स्तुति—कहीं सूर्य, कहीं आदित्य, कहीं सवितृ, कहीं पूषा एवं कहीं मित्र आदि विविध नामों से है। वेदों में देवताओं की संख्या 33 मानी गई हे। इन देवताओं को निवास स्थान की दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया जो निम्न प्रकार हैं—

(1) पृथ्वी पर रहने वाले देवता—अग्नि, वृहस्पति, सोम, पृथ्वी, सिन्धु और नदियाँ इत्यादि।

(2) द्यु-लोक के निवासी देवता—द्यौ, वरुण, मित्र, आदित्य, सूर्य, सविता, पूषा, विष्णु, अश्विन एवं उषा इत्यादि।

(3) अन्तरिक्ष के निवासी देवता—इन्द्र, वायु, पर्जन्य, रुद्र, मरुत्, आपा इत्यादि।

इनके अतिरिक्त कुछ और देवता भी हैं जो वास्तविक दृष्टि से इन तीन वर्गों में नहीं रखे जा सकते। उनके नाम हैं—प्रजापति, त्वष्टा, दिति, अदिति, विश्वकर्मा, गन्धर्वगण, अप्सराएँ इत्यादि।

देवता के लिए वेदों में देव शब्द प्रयुक्त है जिसका अर्थ है दानशील, दीपनशील या द्योतनशील अर्थात् देवता वह है जो दान दे एवं द्युति से युक्त हो। सभी देवता बड़े ही शक्तिशाली एवं महान् रूप में वर्णित हैं। उनका आकार मानव जैसा है, पर वे ज्योति स्वरूप हैं, उनकी कोई साकार मूर्ति नहीं है। अपने दिव्य वाहनों में चढ़कर आते हैं, अपने भक्तों की प्रार्थना सुनते हैं और अपने पूजकों पर कृपा करते हैं। वे सुख एवं समृद्धि के दाता हैं, भय के कारण नहीं हैं। वे अपने पूजकों को धन, धान्य, पशु, समृद्धि, सुन्दर पत्नी, बलिष्ठ पुत्र, शारीरिक बल, दीर्घ आयु एवं भरपूर फसल आदि देकर उनकी भौतिक कामनाओं की पूर्ति करते हैं। इन लौकिक सुख-समृद्धि के अतिरिक्त वे मृत्यु के उपरान्त उन्हें स्वर्ग देते हैं जो सभी प्रकार के सुखों का आगार हैं।

वेदों में प्राय: सभी देवताओं के लिए एक से ही विशेषणों का प्रयोग किया गया है। जहाँ जिस देवता की स्तुति है, उसे ही सर्वशक्तिमान एवं सबसे अधिक बलवान माना गया है। इन देवताओं में पृथ्वी स्थानीय अग्नि देवता, अन्तरिक्ष स्थानीय इन्द्र एवं द्युलोक स्थानीय वरुण का विशेष महत्त्व है।

अग्नि—अग्नि देवता भक्त द्वारा दी गई बलि एवं आहुति को देवलोक पहुँचाता है अत: देवलोक एवं भक्तलोक में सम्बन्ध स्थापित करने हेतु इस देवता का विशेष महत्त्व है।

इन्द्र—अन्तरिक्ष के देवों में इन्द्र का स्थान अति महत्वपूर्ण है। इनकी पूजा राष्ट्र देवता के रूप में होती थी। वह अत्यधिक बलशाली, आदर्श योद्धा, जीवनदाता एवं पोषक है। समृद्धि एवं सम्पन्नता का प्रतीक है। वह वृत्रासुर को, जो वर्षा से परिपूर्ण मेघों को रोके रखता था, पराजित कर प्रचुर वर्षा का उपाय करता था एवं शत्रुओं को ध्वस्त कर देता था।

वरुण—यह देव वैभव तथा शक्ति में उत्कृष्ट है। वरुण मनुष्यों के हृदय को परखने वाला देव है। वह श्रेष्ठता, सत्यता, धार्मिकता तथा नैतिकता का आदर्श है। वरुण अपने आधीन प्राणियों से सदाचार तथा सत्कर्मों की आशा रखता है। वरुण, ऋत (सत्य) का प्रतीक एवं रक्षक है। ऋत से अभिप्राय नियम या न्याय से भी है। वरुण पापियों का न्याय करके उन्हें दण्डित करता है। वरुण के सम्मान में लिखे सूक्तों में उपासक की ओर से पश्चाताप तथा क्षमा-याचना के भावों की झलक है।

इस काल के धार्मिक कृत्यों में यज्ञ की प्रधानता थी। यज्ञों में वे देवताओं की स्तुतियाँ गाते थे। उनका आह्वान करते थे एवं अग्नि में आहुति देकर अपनी भेंट को देवताओं तक पहुँचाते थे। पर यज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल एवं साधारण था। कुटुम्ब का मुखिया ही याजक होता था।

इस काल का धर्म बड़ा ही आशावादी, उत्साहवर्धक, मंगलमय एवं कल्याणकारी था। उन्होंने देवताओं से माँगा है—हमें सोम दीजिये जिसे पीकर हम अमर हो जायें "अपाम सोम अमृताअभूम"। यह संसार दु:ख का आगार है अथवा 'जीवन नश्वर या क्लेशपूर्ण है' इस भावना का इस काल में जोर नहीं है। वे इस जीवन को सुन्दर तथा सुखपूर्ण मानते थे। उनका विश्वास था कि अगर देवता अनुकूल रहे तो मनुष्य पुण्य के रास्ते पर चलकर अपनी जिन्दगी बहुत ही आनन्द

के साथ बिता सकता है। उस समय का प्रधान स्वर यही है कि जिन्दगी आनन्द से जीने योग्य है। देवताओं को प्रसन्न रखकर हम मरने के बाद भी एक ऐसा लोक प्राप्त कर सकते हैं जहाँ आनन्द ही आनन्द होगा।

वैदिक धर्म प्रारम्भ में बहुदेववादी था। ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों में विभिन्न देवताओं की ही स्तुतियाँ मिलती हैं। परन्तु ऋग्वेद में ही कुछ ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि अनेक देवताओं की उपासना करते-करते ऋषियों के मन में एकदेववाद (Monotheism) की भावना जन्म लेने लगी। उनके मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि सभी देवताओं में एक ही दिव्य शक्ति है। उसमें भिन्नता केवल नाममात्र की है। उनके यह भाव "महद् देवानामसुरत्वमेकम्" एवं "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" आदि वचनों के माध्यम से अधिक सुस्पष्ट मुखरित होते हुए दिखाई देते हैं।

अनेक में एक ही अथवा भेद में अभेद की भव्य भावना निरन्तर विकसित होती गई और यह भावना बहुदेववाद (Polytheism) में एकदेववाद (Monotheism) और एकदेववाद से एकत्ववाद या सर्वेश्वरवाद (Monism and Henotheism) पर पहुँच गई और उन्हें साक्षात् रूप से यह अनुभूति होने लगी कि एक देवता अथवा एक ही महान सत्ता केवल सब देवों का ही नहीं अपितु सारे विश्व का प्रतिरूप है। उनके मन में इन देवताओं के मूल रूप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जैसे–इन्द्र एक प्रमुख देव है, पर उसके विषय में भी सन्देह व्यक्त किया गया–इन्द्र कहीं नहीं है, किसने उसे देखा है ?

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में देवता को "पुरुष" के नाम से पुकारा गया–"पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च भव्यम्" अर्थात् "पुरुष ही सब है जो हुआ है और होगा"। इस प्रकार ऋग्वेद के अन्तिम दशम् मण्डल में बहुदेववाद-एकत्ववाद या सर्वेश्वरवाद के रूप में विकसित होकर सामने आया। 'नासदीय सूक्त' में सृष्टि रचना एवं सृष्टि से पूर्व की अवस्था पर चिन्तन मिलता है। नासदीय सूक्त के एक सूक्त का भाव इस प्रकार है कि 'सृष्टि से पूर्व न सत् था न असत्', अन्तरिक्ष मृत्यु आदि कुछ न था, अन्धकार से ही अन्धकार आवृत्त था।"

वेदों में प्रतिपादित ओंकार एवं गायत्री मन्त्र के जाप के महत्त्व को समझ लेना भी आवश्यक है। ओंकार शब्द को महामन्त्र कहा है। ओंकार शब्द को महामन्त्र कहलाने का अधिकार इसलिए प्राप्त नहीं है कि वह विशेष अक्षरों अर्थात् अ, उ, म के योग से बना है अपितु इसलिए कि इसके विधिपूर्वक उच्चारण करने से अन्तरी चक्रों में एक विशेष प्रकार की थरथराहट पैदा होती है और ब्रह्म पुरुष के दर्शन की योग्यता जाग्रत हो जाती है। ओंकार शब्द की तीन मात्राएँ जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं की प्रतीक है परन्तु तुरीयावस्था उसके परे है, जो आनन्दमय और ब्रह्मपद है। अस्तु, ब्रह्म पद का वाचक स्वरूप होने के कारण वैदिक धर्म में ओंकार शब्द का अत्यधिक महत्व है। इस काल में ऋषियों, मुनियों ने आन्तरिक अभ्यास का ज्ञान प्राप्त कर लिया था जिसकी पुष्टि उनके गायत्री मन्त्र से भी होती है। प्रश्न उठता है कि इस मन्त्र में "सविता" देवता की उपासना क्यों की गई ? जिन्होंने अभ्यास किया है, वे जानते हैं कि उस ब्रह्म पुरुष का दर्शन प्राप्त होने से पहले अभ्यासी की आत्मा को पीले अर्थात् सुनहरे रंग के मण्डल से होकर जाना पड़ता है। उस प्रकाश की समता प्रातःकालीन सूर्य के समान है। अस्तु, इन दो विवरणों से स्पष्ट है कि इस काल में देवताओं की बाह्य उपासना के साथ-साथ उन्हें आन्तरिक अभ्यास के अनुभवों का भी ज्ञान प्राप्त था। इन वर्णनों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में इस प्रकार का चिन्तन

जाग्रत हो गया था। यद्यपि ऐसा चिन्तन यहाँ बीज रूप में परिलक्षित होता है, पर उसका पूर्ण विकास हमें वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में मिलता है।

ब्राह्मण काल

संहिता काल के अन्तर्गत लिखे धर्म के विवरण से ज्ञातव्य है कि उस समय का धर्म प्रधानतः स्तुतिपरक था। देवताओं की स्तुति में विभिन्न यज्ञों का सम्पादन किया जाता था जिनका स्वरूप अत्यन्त सरल एवं साधारण था। परिवार का प्रमुख पिता ही याजक का कर्त्तव्य निभा सकता था। परन्तु शनैः-शनैः यज्ञीय अनुष्ठानों की बारीकियाँ बढ़ती गईं, एवं वे जटिल दुर्बोध और दुरूह होते गये जिन्हें विशिष्ट यज्ञीय ज्ञान में निपुण याजक के बिना सम्पन्न नहीं किया जा सकता था। ब्राह्मण काल में यज्ञ की सफलता न तो उपासक के सदाचार, चरित्र, श्रद्धा आदि पर निर्भर थी और न ही देवताओं की इच्छा पर, अपितु विधिपूर्वक की गई कर्मकाण्ड की बारीकियों पर निर्भर थी। उनका विश्वास था कि यज्ञों के द्वारा देवताओं को वशीभूत किया जा सकता है एवं उनसे पारलौकिक तथा लौकिक सुख प्राप्त किया जा सकता है। यज्ञ सम्पादन में श्रद्धा एवं यजमान का स्थान अर्थ एवं कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने ले लिया। बिन श्रद्धा के भी यजमान अर्थ देकर यज्ञ करवा सकता था एवं फल प्राप्त कर सकता था।

यद्यपि इस युग में भी संहिता काल के देवताओं की ही उपासना प्रचलित थी, परन्तु अब इन देवताओं की आराधना एवं उपासना में शिथिलता आ गई। यज्ञ अथवा अनुष्ठान सम्पन्न करना ही वास्तविक पूजा या उपासना हो गई। संहिता काल का धर्म आशावादी एवं उत्साहवर्धक था। परन्तु इस युग में यज्ञों के विधिवत् सम्पादन कराने के उत्तरदायित्व ने मनुष्यों के हृदय में भय की भावना भर दी। यज्ञों की संख्या भी बढ़ गई। एक-एक गृहस्थ को नित्य, नैमित्तिक एवं श्रौत आदि विभिन्न यज्ञ मिलाकर करीब 40 से भी अधिक यज्ञ अपने जीवन काल में सम्पन्न कराने पड़ते थे जो बड़े ही खर्चीले होते थे। कहने का तात्पर्य है कि इस समय का धर्म कर्मकाण्ड प्रधान एवं जटिल था।

आरण्यक एवं उपनिषद् काल

ब्राह्मण काल की यज्ञीय कर्मकाण्ड के विस्तार की प्रतिक्रिया में दार्शनिक चिन्तन जाग्रत हुआ। प्रश्न उठता है कि दार्शनिक चिन्तन का जागरण सर्वप्रथम किस वर्ग में हुआ। ब्राह्मणों का समाज में प्रभुत्व था। वे किसी भी प्रकार अपने प्रभुत्व को कम नहीं करना चाहते थे। कठोपनिषद् में तो यहाँ तक लिखा है कि आशा और प्रतीक्षा, सत् संगत और सत्य मधुर वाणी, हवन-यज्ञ आदि का पुण्य और दान आदि परोपकार का फल तथा संतान और पशुधन ये सबके सब उस मूर्ख से छीन लिये जाते हैं जिसके घर में कोई ब्राह्मण भूखा रह जाये। मानो, परमेश्वर से सुख सामग्री, पशु और संतान इसीलिए मिली है कि ब्राह्मणों का सत्कार किया जाय। अतः ब्राह्मण वर्ग अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के समान यज्ञीय कर्मकाण्ड के विरुद्ध कुछ भी कहने को तैयार न था। बृहदारण्यक एवं छांदोग्योपनिषद् में यह उल्लेख है कि यह जागरण क्षत्रियों के हृदयों में हुआ और इस ब्रह्म ज्ञान के क्षेत्र में काशी के क्षत्रिय राजा अजातशत्रु जिन्होंने गार्ग्य को तथा पंचाल के क्षत्रिय राजा प्रवहण जैबलि ने याज्ञवल्क्य को उपदेश दिया। उन्हें यज्ञ उन क्षुद्र नौकाओं के समान लगे जो मानव को भवसागर से पार करवाने में असमर्थ हैं। उनका विचार था कि यज्ञ भौतिक समृद्धि दे सकते हैं, स्वर्ग की प्राप्ति करा सकते हैं परन्तु यज्ञीय विधान का फल चिरस्थायी

सुख नहीं हो सकता। कर्म से प्राप्त फल कभी भी चिरस्थायी नहीं होता। जैसे इस संसार में लौकिक कर्मों से प्राप्त फल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार यज्ञीय कर्म से प्राप्त फल परलोक भी नष्ट हो जाता है।

यज्ञ के विधान से उत्पन्न पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, पर जब पुण्य क्षीण हो जायेंगे, तब पुन: जीव को मर्त्यलोक में आना पड़ता है। अतएव मनुष्य को सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए कुछ और करना चाहिए और यह सच्चा सुख मोक्ष का सुख है जिसे प्राप्त कर मानव पुन: आवागमन रूपी दु:ख के बन्धन में नहीं पड़ता एवं जिस मोक्षानन्द के सम्मुख लौकिक व स्वर्ग का सुख तुच्छ है। इस सच्चे सुख की प्राप्ति कर्म से नहीं ज्ञान से हो सकती है। अस्तु यह संसार क्या है ? इसका सृष्टा कौन है ? जीवात्मा एवं परमात्मा में क्या सम्बन्ध है ? सृष्टि की रचना कैसी हुई ? मृत्यु के उपरान्त जीव कहाँ जाता है ? आदि-आदि विभिन्न संशयात्मक प्रश्नों के मूल तत्वों को जान लेने की जिज्ञासा बलवती हो गई। इस प्रकार का चिन्तन कोई नवीन चिन्तन नहीं था। वेदों में यह चिन्तन बीज रूप में प्राप्त होता है जिसका थोड़ा उल्लेख संहिता काल के अन्तर्गत पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। पर ब्राह्मण काल के पश्चात् आरण्यक ग्रन्थों में यह बीज अंकुरित हुआ। आरण्यक ग्रन्थों में उन विचारशील व्यक्तियों के चिन्तन मिलते हैं जिन्होंने यद्यपि यज्ञादि के जटिल अनुष्ठानों से ऊबकर उनका खंडन तो नहीं किया पर एकान्त वन स्थलों में जाकर जीवन तथा धर्म की वास्तविकता पर चिन्तन किया। इसी चिन्तन का पूर्ण विकास उपनिषदों में मिलता है। इस काल में कर्मकाण्ड की जटिलता से हटकर धार्मिक विचार ज्ञान एवं विवेक पर आधारित हो गये। इसीलिए आरण्यक एवं उपनिषदों को ज्ञानकाण्ड भी कहा जाता है। **सर राधाकृष्णन्** के अनुसार, "वेदों की अपेक्षा उपनिषदों में नई बातें ये हैं कि इनमें वेद मन्त्रों की संकेत की गई अद्वैतवाद सम्बन्धी शिक्षा पर अधिक जोर दिया गया है, विचारों का केन्द्र बाहरी संसार से हटाकर अन्तरी संसार में स्थिर किया गया है। वैदिक कर्मों के आडम्बर के विरुद्ध प्रतिवाद का स्वर ऊँचा उठाया गया है।"

"उपनिषदों ने इस प्रवृत्ति को भली-भाँति दृढ़ कराया है और केवल एक आत्मा को माना है जो सर्वशक्तिमान, अनन्त और अपार, नित्य, अचिन्त्य और अनन्याधार तथा संसार का कर्ता, भर्ता और संहर्ता है। वह समस्त जगत का प्रकाश प्रभु और प्राण है। वह अनुत्तम, सत्यतम और एकतम उपास्य देव है।"

अस्तु, उपनिषदों में आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं पारलौकिक चिन्तन मिलता है। इस दृश्य जगत से पूर्व क्या अवस्था थी ? दृश्य जगत् का निर्माण किन तत्वों से हुआ ? दृश्य जगत के नष्ट हो जाने पर क्या शेष बचेगा ? इस प्रकार के जटिल प्रश्नों पर विचार किया गया एवं इस ज्ञान को जिज्ञासु शिष्यों की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए उन्हें पास बिठाकर सुनाया एवं समझाया गया। सभी उपनिषदों में यह ज्ञान कथा के रूप में प्रश्नोत्तर के माध्यम से वर्णित है जैसे बृहदारण्यकोपनिषद् में मैत्रेयी एवं याज्ञवल्क्य के संवाद के माध्यम से। ऋषि याज्ञवल्क्य ऊर्ध्व गति प्राप्त करने के लिए गृहस्थाश्रम को छोड़ वनोन्मुख है। पर जाने से पूर्व अपनी पत्नियों मैत्रेयी एवं कात्यायिनी के बीच अपने धन का बँटवारा करना चाहते हैं। मैत्रेयी विदुषी थी। उसने अपने पति से प्रश्न किया कि क्या वह इस लौकिक धन को प्राप्त कर अमरत्व को प्राप्त कर सकेगी। उत्तर नकारात्मक मिलने पर उसने पति के उस अक्षय ज्ञान रूपी सम्पत्ति को लेना चाहा जो कभी नष्ट न हो। फलत: याज्ञवल्क्य उसे आत्मा परमात्मा सम्बन्धी उपदेश देते हैं जिसे जान लेने पर

सब कुछ जान लिया जाता है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में यम और नचिकेता के प्रश्नोत्तर के माध्यम से आत्मा परमात्मा का विवेचन है।

सभी उपनिषदों में आत्म ज्ञान देने से पूर्व अधिकारी शिष्य की परीक्षा ली गयी है। साधन चतुष्ट्य से युक्त शिष्य ही इस ज्ञान का अधिकारी है। साधन चतुष्ट्य इस प्रकार है–

(1) नित्यानित्य वस्तुविवेक

(2) इहामुत्रफलभोग विराग

(3) **शमदयादिषट्क** सम्पत्ति

(4) मुमुक्षुत्व।

कठोपनिषद में अधिकारी नचिकेता तीन दिन तक यम के द्वार पर उनके आगमन की प्रतीक्षा करता है, तब यम आते हैं। यम उसे बहुत-से प्रलोभन देते हैं, पर अधिकारी नचिकेता को नित्य अनित्य वस्तु का ज्ञान है वह अनित्य वस्तु के प्रलोभनों से नित्य ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा से डिगता नहीं। उसे न इस लोक की कामना है और न स्वर्ग की क्योंकि इस लोक का सुख-वैभव एवं परलोक का सुख-वैभव सब विनाशशील है। वह शम दम आदि षट् गुणों से सम्पन्न है तभी तो निराहार रहकर तीन दिन तक यम की प्रतीक्षा करते हुए यम के द्वार पर पड़ा रहता है। उसे तो केवल एक मोक्ष ज्ञान की ही इच्छा है। ऐसे साधन चतुष्ट्य युक्त अधिकारी को ही यम मोक्ष ज्ञान का उपदेश देते हैं। कठोपनिषद् की यह कथा उदाहरणस्वरूप है। इसी प्रकार की चर्चा परिचर्चा अन्य उपनिषदों में भी उपलब्ध है। उपनिषदों के ये शिष्य सच्चे जिज्ञासु एवं अन्वेषी हैं। समझाने का माध्यम भले ही कहानी है, पर कहानी युक्ति की कसौटी पर खरी उतरती है।

यहाँ के शिष्य एवं गुरु सच्चे एवं उत्साही शिष्य गुरु हैं जो सजीव चर्चाओं में तल्लीन हैं। कठोपनिषद् का संदेश है 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य चरान्नियोधत्' अर्थात् उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाओ और ज्ञान प्राप्त करो।

संहिता काल, ब्राह्मण काल, आरण्यक एवं उपनिषद् काल के धार्मिक विचारों में क्या अन्तर था, इसे स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि वेदों एवं ब्राह्मणों का धर्म वस्तुनिष्ठ था। वहाँ धन, पुत्र, स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए यज्ञ का विधान था, पर उपनिषदों में धर्म वस्तु से हटकर आत्मनिष्ठ हो गया। संहिता काल में प्रकृति की विस्तृत व्यवस्था ने मनुष्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और प्रकृति की विभिन्न बाह्य शक्तियाँ जो ऋत् कहलाती थीं, वे ही उनकी आराध्य देव थीं। आरण्यक एवं उपनिषद् काल में भौतिक जगत के अन्दर निवास करने वाली आत्मा की ओर ध्यान संक्रमित होता है। जब आराधना केवल नामधारी देवता की ही नहीं अपितु सत्य स्वरूप जीवित ईश्वर अर्थात् ब्रह्म रूपी आत्मा की हो गई। इस काल में भी देवता यद्यपि वही प्राकृतिक शक्तियाँ थीं, यज्ञ भी उसी प्रकार प्रचलित थे, पर देवताओं से सांसारिक वैभव धन सम्पत्ति आदि की याचना नहीं है बल्कि दु:ख से शाश्वत निवृत्ति के लिए प्रार्थना है। यज्ञों की लाक्षणिक व्याख्या की गई। उनमें घोषणा के साथ कहा गया कि यज्ञों के द्वारा आत्मा को मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती। कामनायुक्त यज्ञ या कर्ममार्ग को प्रेय तथा ज्ञान मार्ग को श्रेय कहा गया। प्रेम का वरण करने वाला मनुष्य नानार्थ में बँध जाता है जबकि श्रेय का वरण करने वाला मनुष्य सच्चे अर्थ में धार्मिक जीवन बिताकर अभ्यान्तर दृष्टि से आत्मा का साक्षात्कार करके मोक्ष की प्राप्ति करता है। कर्म से मनुष्य बँधता है, विद्या से मुक्ति की प्राप्ति करता है। "कर्मणा

बध्यते जन्तुः विद्यया च विमुच्यते" अथवा "विद्यायामृतमश्नुते" आदि वाक्यों से सिद्ध है कि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान ही अनश्वर सुख प्राप्ति का एकमात्र साधन है और यह ज्ञान बिना गुरु के प्राप्त नहीं किया जा सकता। सैकड़ों में से कोई एक बिरला ही इस सच्चे ज्ञान का ज्ञाता होता है और उन आत्मज्ञानियों में कोई बिरला ही इस ज्ञान का उपदेश दे सकता है और उपदेश को ग्रहण करने वालों में कोई बिरला इस ज्ञान को सच्चे अर्थों में सुन और समझ पाता है। कठोपनिषद् की दूसरी बल्ली में ठीक ही कहा है कि आत्मा का असली भेद तर्क से समझ में नहीं आता। पर किसी ऐसे गुरु के बतलाने से समझ में आता है जिसने उसका दर्शन किया हो। उस देव (आत्मा) का दर्शन प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। वह अँधेरे से घिरा हुआ है और गुहा में छिपा है। वह दुर्गम स्थान में स्थित है। उसका दर्शन प्राप्त करने के लिए अध्यात्म योग की आवश्यकता है। वह आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से महान् है। वह वेदों के पढ़ने, बुद्धि के लड़ाने या सुनने और सीखने से प्राप्त नहीं होता। हाँ, जिसका मन संसार की वासनाओं तथा हर्ष और शोक के प्रभाव से रहित हो और जिस पर सत्यकर्ता की कृपा हो, उसी को उसका दर्शन मिलता है। जिस व्यक्ति का चाल-चलन ठीक नहीं है, जो अपने मन को वश में रखता नहीं, जिसका चित एकाग्र नहीं होता और जिसके हृदय में शान्ति नहीं है, वह यदि चाहे कि केवल शास्त्रों का अध्ययन करके उसे जान ले तो यह असम्भव है।

ऊपर लिखे उद्धरणों से स्पष्ट है कि इस काल में ऋषियों ने ब्रह्म ज्ञान की सूक्ष्मता को समझा। संयम एवं एकाग्रचित्त के साथ-साथ बिना गुरु के यह ज्ञान दुर्लभ है, अस्तु, गुरु-महिमा को जाना एवं समझा। इसीलिए श्वेताश्वतरोपनिषद् में गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर एवं परमब्रह्म का प्रतिरूप मानकर उसके चरणों में नमस्कार किया गया—

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुर्साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।"

आगे इसी उपनिषद् की छठी वल्ली में ब्रह्म दर्शन की सूक्ष्मता पर विचार मिलते हैं, "उसका दर्शन चर्म चक्षु से प्राप्त नहीं हो सकता। उसके लिए हृदय, बुद्धि और मन का प्रयोग करना होता है। जो यह जानते हैं, वे ही अमर जीवन प्राप्त करते हैं।" "वह ब्रह्म न वाणी से, न मन से और न आँख से पाया जा सकता है। जब तक किसी व्यक्ति को वह गति प्राप्त न हो जाय कि वह निश्चय रूप से यह कह सके कि 'वह है', तब तक वह कदापि पाया नहीं जा सकता। जब मनुष्य के हृदय से सब संसारी वासनाएँ मिट जाती हैं, तब जन्म-मरण के चक्कर में फँसा हुआ जीव अमर हो जाता है और फिर उसे ब्रह्म दर्शन प्राप्त होता है, तब हृदय की सब गाँठें खुल जाती हैं। इतना ही उपदेश है अर्थात् यही उपनिषद् की शिक्षा है।"

उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है क्योंकि ये वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी है। वे वेदों के 'अन्त' अर्थात् अन्तिम या सार रूप अंश है। हिन्दू धर्म एवं दर्शन के जो विभिन्न रूप हमें वर्तमान काल में दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब उपनिषदों से ही प्रभावित हैं। भक्ति मार्ग या सगुण उपासना, कर्मयोग या निष्काम कर्म तथा गीता प्रतिपादित समस्त आध्यात्मिक मार्गों का समन्वय उपनिषदों में प्राप्य है। 'प्रस्थान त्रयी' में यद्यपि 'उपनिषद्' 'ब्रह्मसूत्र' एवं भगवद्गीता की गणना है, पर गीता एवं ब्रह्मसूत्र में व्यक्त विचारों का आधार उपनिषद् ही है। इन्हीं उपनिषदों में व्यक्त ज्ञान के आधार पर ही शंकराचार्य ने अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद, वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद, माधवाचार्य ने द्वैतवाद, निम्बार्क ने द्वैताद्वैतवाद आदि मतों की स्थापना की। उपनिषद्

हिन्दू धर्म एवं दर्शन की आधारशिला हैं। भारतीय धर्मों पर उपनिषदों के इस व्यापक प्रभाव को बतलाते हुए स्वामी विवेकानन्द जी का कथन है—

"उपनिषदों में ही हम समस्त परकालीन भारतीय धार्मिक चिन्तन की समृद्धि देख पाते हैं। यह कहना बिल्कुल निराधार है कि उपनिषदों में भक्ति का आदर्श नहीं है। उपनिषदों का जिन्होंने अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि यह सही नहीं है। यदि खोजो तो प्रत्येक उपनिषद् में काफी भक्ति है किन्तु बहुत-से वे विचार जिनका परवर्ती काल में, पुराणों में, स्मृतियों में इतनी पूर्ण रूप से विकास हुआ, उपनिषदों में वे बीज मात्र रूप में है। कोई ऐसा पूर्ण विकसित भारतीय आदर्श नहीं जिसका उद्गम वहाँ अर्थात् उपनिषदों में खोजने पर न मिले।"

ब्लूम फील्ड के अनुसार तो भारत-भूमि पर पनपे सभी धर्म उपनिषदों से प्रभावित हैं। उनके अनुसार तो हिन्दू विचार चाहे वह अवैदिक बौद्ध धर्म ही हो, उसका भी कोई मुख्य रूप ऐसा नहीं है जिसका मूल उपनिषदों में न हो।

4

हिन्दू धर्म : इतिहास, स्मृति एवं पुराण

हिन्दू धर्म का मूल स्रोत

हिन्दू धर्म का मूल स्रोत वेद है। इतिहास, स्मृति व पुराणग्रन्थ वेद धर्म के ही व्याख्या रूप हैं। हिन्दू धर्म का कर्तव्यपरायणता से पूर्ण आदर्श रूप वाल्मीकि रामायण में मिलता है। पवित्रतापूर्वक रहकर तप करते हुए ईश्वर की आराधना करना एवं अधर्म से दूर रहना बाल्मीकि रामायण का मूल धर्म है। यज्ञ भावना में बच्चों, वृद्धों, रोगियों और असहायों के पालन-पोषण और उनकी सहायता में सर्वत्र करुणादि भाव विद्यमान है। वाल्मीकि ने क्षमा को नर-नारियों का आभूषण माना है। मानव धर्म के सभी गुण क्षमा में ही निहित हैं। क्षमा पर ही यह सम्पूर्ण संसार टिका हुआ है। वाल्मीकि ने सत्य और धर्म को अन्योन्याश्रित बतलाते हुए कहा है कि यह "सत्य ही प्रणव-रूप शब्द ब्रह्म है। सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित है। सत्य ही अविनाशी वेद है और सत्य से ही परम ब्रह्म की प्राप्ति होती है।"

वाल्मीकि रामायण का आदर्श

वाल्मीकि रामायण के राम एक ऐसे आदर्श क्षत्रिय हैं जो मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं। राम को भरत और कौशल्या भी अपने पिता की आज्ञा पालन के संकल्प से विमुख नहीं कर पाते हैं। महर्षि जाबालि ने भी राम को भोग-विलासमयी अयोध्या में लौट चलने के लिए प्रेरित किया किन्तु राम ने महर्षि को उत्तर दिया कि "पाप का आचरण करने वाला व्यक्ति मर्यादा रहित होकर या सच्चरित्रता छोड़कर सज्जनों में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता है। पुरुष ऊँचे कुल में पैदा हुआ हो या नीचे कुल में, उसका चरित्र ही पवित्रता-अपवित्रता का कारण होता है। यदि मैं धर्म के नाम पर अधर्म अपना लूँ तो संसार को कुमार्ग पर बढ़ाने वाले मुझको कौन विद्वान आदर की दृष्टि से देखेगा ? जैसा राजा का आचरण होता है, वैसा ही प्रजा का आचरण होता है। राजा का आचरण सत्य के अनुकूल होना चाहिए। सत्य की लोक में प्रतिष्ठा होती है। ऋषियों और देवताओं ने सत्य का सम्मान किया है। सत्यवादी को परलोक में सुगति मिलती है। लोग जिस प्रकार साँप से डरते हैं, वैसे ही असत्यवादी से डरते हैं। सब का मूल सत्य में ही है। सत्य से ऊँचा कुछ भी नहीं है।" तत्कालीन श्रेष्ठ आचार-पथ को स्पष्ट करते हुए राम ने सत्य, धर्म, पराक्रम, जीवों के प्रति दया, मीठी वाणी और अतिथि सेवा को सन्मार्ग कहा है। सीता का चरित्र भी नारी जीवन का आदर्श है। वह प्रत्येक कष्ट को सहन करती हुई राम की इच्छा के अनुकूल ही पतिव्रता धर्म का पालन करती है। वाल्मीकि रामायण का उद्देश्य राजधर्म या रामराज्य की स्थापना है। श्रीराम का जीवन इसी आदर्श के लिए समर्पित है। राजा और प्रजा सभी के आचरण धर्म द्वारा निर्धारित और नियन्त्रित

थे। इसीलिए गाँधी जी ने स्वतन्त्र भारत की शासन व्यवस्था की कल्पना वाल्मीकि के रामराज्य के आधार पर की।

महाभारत : हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का विशाल संग्रह

महाभारत हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का एक विशाल संग्रह है। युगभेद के साथ रामायण और महाभारत की संस्कृतियों में भेद दिखलाई पड़ते हैं। रामायण कालीन संस्कृति धर्म प्रधान है। महाभारत काल में धर्म विरुद्ध आचरण होते हैं अत: दुखी होकर तत्कालीन महामुनि **व्यास** को कहना पड़ता है—"मैं तो भुजाओं को ऊँचा कर पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ किन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता है। धर्म से केवल मोक्ष की ही नहीं, अर्थ और काम की भी सिद्धि होती है, तब भी न मालूम लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते।" महाभारत के वनपर्व में गृहस्थधर्म, अक्रोध, क्षमा तथा सदुपयोग के माध्यम से हिन्दू धर्म के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से विचार किया गया है। क्षमा को धारण करने वाले व्यक्ति में संसार के सभी सद्‌गुण विद्यमान रहते हैं। महाभारत में यज्ञ, तप, दान, वेदों का स्वाध्याय और सत्य भाषण इन पाँच पवित्र आचरणों पर बल दिया गया है। जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, उद्दण्डता आदि दुर्गुणों को जीत लेते हैं, वे ही शिष्ट पुरुष कहलाते हैं। महाभारत काल में यज्ञ के साथ-साथ तीर्थ यात्राओं का भी महत्त्व बढ़ा। पुष्कर तीर्थ और गंगा को इस काल में ही विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ।

महाभारत में श्रीकृष्ण को परमात्मा का स्वरूप प्राप्त होता है। भीष्मपर्व में कहा गया है, "वे धर्म हैं, धर्म के ज्ञाता हैं, वरदायक हैं और समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। वे ही कर्ता, कार्य, आदिदेव और स्वयं भगवान हैं तथा वे ही श्री हरि हैं तथा समस्त प्राणियों के माता-पिता हैं।"

महाभारत के वनपर्व में धर्म के विभिन्न सामाजिक पक्षों का समन्वय किया गया है—"जो धर्म का ज्ञाता है, उसे पण्डित जानना चाहिए। जो नास्तिक है—ईश्वर और परलोक की सत्ता पर विश्वास नहीं करता, वही मूर्ख कहलाता है। जो सांसारिक बन्धन का कारण है, उसी का नाम काम है और मानसिक सन्ताप ही मत्सर है।"

धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए व्यास कहते हैं कि जो पुरुष जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, अवश्य ही उसका फल भोगता है। अत: सत्पुरुषों द्वारा पालित धर्म के अनुसार ही बर्ताव करें, शिष्ट पुरुषों की भाँति श्रेष्ठ आचरण करें, दूसरे लोगों को क्लेश पहुँचाये बिना ही जिससे निर्वाह हो जाय, ऐसी ही वृत्ति अपनाने की अभिलाषा करें। मनुष्य का यह दोषयुक्त शरीर मानो एक रथ है, आत्मा इसकी सारथि है एवं इन्द्रियाँ अश्व हैं। इन सबके द्वारा इन्द्रियों रूपी अश्वों को वश में करके सदा सावधान रहने वाले रथी की भाँति धीर पुरुष सुखपूर्वक यात्रा करता है।

गीता का गौरव

महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश गीता है जिसमें बतलाया गया है कि सभी पदार्थ 'क्षर' है और परिवर्तन रहित आत्मा 'अक्षर' है। इसमें कर्म, ज्ञान, भक्ति एवं योग का बड़ा ही सूक्ष्म और समन्वित विवेचन हुआ है। कर्म करना इससे अनिवार्य बतलाया गया है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को शिष्य मानकर उपदेश करते हैं। ज्ञान के प्रसंग के अन्तर्गत सांख्यमतानुसार वे अर्जुन को समझाते हैं कि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, सुख-दु:ख की नहीं। सुख-दु:ख को

समान समझने वाला पुरुष मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी होता है जिसे 'धीर' कहा गया है। जैसे—नदी में पड़ी शिला के ऊपर से नौका, फेन के बुद-बुद और तरंगें आदि निकल जाते हैं और वह ज्यों की त्यों रहती है, उसी प्रकार सुख-दु:ख को समान समझने वाले धीर पुरुष को शब्दादि विषय, इन्द्रियों से सम्बन्धित सुख-दु:ख सुखी अथवा दुखी नहीं कर पाते हैं। इनसे धीर व्यक्ति के चित्त में अनुकूलता से सुख या प्रतिकूलता से दु:ख नहीं होता है।

आत्मा नित्य है और अविनाशी भी है। यह आत्मा न कभी जन्मता है और न कभी मरता है। यह एक बार होकर फिर न हरने वाला भी नहीं है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन तथा सबका आदि कारण है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि वह दु:ख-सुख, हानि-लाभ और हार-जीत को एक समान समझकर युद्ध करें। योग के मतानुसार जिसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है, वह सदैव एकाग्र चित्त रहता है। योग कर्म करने के नेक ढंग का एक नाम है। समझदार लोग कर्म फल का त्याग करते हैं और जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं। जो मनुष्य कछुए के अंगों की तरह अपनी ज्ञानेन्द्रियों को उनके भोगों से समेट लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। गुरु कृपा और आत्म-दर्शन से भोगों के स्वाद का प्रभाव भी दूर हो जाता है। एकाग्रचित्त वाले पुरुष का दिन संसार के साधारण पुरुषों की रात है। जैसे नदियों द्वारा सब ओर से समुद्र में भरा हुआ जल अपनी गति को त्यागकर शान्त हो जाता है, वैसे ही स्थिरप्रज्ञ पुरुष कामनाओं से रहित होकर सर्वदा एकरस रहता है। यहाँ पहुँचकर मोह नहीं रहता, पुरुष निर्वाण गति को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य का कोई भी क्षण कर्म किये बिना नहीं बीतता है। यज्ञ की उत्पत्ति भी कर्म ही से होती है। यज्ञ में ब्रह्म प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य अनासक्त होकर कर्म करता है, वह परम-गति को प्राप्त हो जाता है। अपने धर्म में मरना भी अच्छा है, दूसरों का धर्म तो भय का ही कारण है। ज्ञानयोग की परम्परा अटूट है जो अजन्मा, अविनाशी ईश्वर से जुड़ी हुई है। श्रीकृष्ण वही ईश्वर हैं जो धर्म के ह्रास और अधर्म की वृद्धि होने पर हर युग में सत्पुरुषों की रक्षा, पापियों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए देह धारण करते हैं। ऐसे ईश्वर को जो जिस भाव से भजता है, ईश्वर भी उसी भाव से उसे भजता है। श्रद्धावान, तत्पर और संयमी पुरुष ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा ज्ञान प्राप्त करके तत्काल ही शान्ति प्राप्त कर लेता है।

योगाभ्यास की साधना को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण ने अक्षर पुरुष के पद को ब्रह्म के परे 'निजधाम' कहा है। वहाँ एक बार पहुँचकर कोई भी इस दु:ख के लोक में वापस नहीं आता है। वेदों के ज्ञाता इसी पद को अक्षर, अविनाशी ब्रह्म कहते हैं। वीतरागी पुरुष इसमें अभेद भाव से प्रवेश करते हैं और इसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन भी किया जाता है। जो पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रिय द्वारों को रोककर, मन को हृदय में स्थापित कर, प्राणों को मूर्धा में ठहराकर तथा योग धारणा में स्थिर होकर 'ओम' इस 'एकाक्षर ब्रह्म' का उच्चारण करते तथा उनका निरन्तर स्मरण करते हुए देह को त्याग कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को धर्म के वास्तविक रहस्य को समझने का अधिकारी मानकर उसे समझाया कि—

(1) मैं इस सारी दुनियाँ के अन्दर व्याप्त हूँ और सब वस्तुएँ मेरे सहारे कायम हैं, मैं उनके आसरे कायम नहीं हूँ और ये वस्तुएँ खुद मुझ में कायम नहीं हैं अर्थात् उनको आसरा देता हुआ भी मैं उनसे अलहदा हूँ।

(2) यज्ञ की सामग्री मैं हूँ, पितरों को अपर्ण किये जाने वाला अनाज मैं हूँ। बूटियाँ मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घी मैं हूँ, आग मैं हूँ और आहुति मैं हूँ, इस जगत का बाप मैं हूँ, माँ मैं हूँ, सहारा देने वाला मैं हूँ, बुजुर्ग मैं हूँ, पवित्र जानने के लायक 'ओम' मैं हूँ, ऋक्, यजुष् और साम मैं हूँ।

(3) परमगति, भरण-पोषण करने वाला, मालिक, साक्षी, निवास, स्थान, शरण, प्यार करने वाला, जगत की उत्पत्ति, नाश (प्रलय) स्थिति, भण्डार और अविनाशी जीव मैं हूँ।

(4) हे अर्जुन ! तू विश्वास कर कि मेरे भक्तों का कभी नाश नहीं होता। जो लोग मेरी शरण धारण कर लेते हैं, वे परम गति को प्राप्त करते हैं।

(5) हे अर्जुन ! तुम जो नाशवान और सुख से रहित दुनियाँ में आ पड़े हो, मेरी भक्ति में लगो। अपना मन मुझमें कायम करो, मेरी भक्ति करो, मेरे निमित्त यज्ञ करो, मुझको नमस्कार करो, इस तरह आत्मा को मुझमें जोड़कर मेरे इच्छुक होकर तुम मुझको प्राप्त होंगे।

गीता में पूर्ण समभाव का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि सब में एक ही आत्मा व्याप्त है। ज्ञानी लोग विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, हाथी में, गाय में, कुत्ते में और चाण्डाल में समान दृष्टि रखने वाले होते हैं। गीता में मनुष्य को अपनी आत्मा को और ऊँचा उठाने का उपदेश दिया गया है। आत्मा को नीचा नहीं गिराना चाहिए। आत्मा का आत्मा ही बन्धु है और आत्मा ही शत्रु है। यदि हम अपने को ऊँचा उठाते हैं तो ऊँचे उठेंगे और यदि हम नीचा गिराते हैं तो नीचे गिरेंगे। फिर हम अपने ही शत्रु बन जायेंगे। सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर से ही प्रकट होती है और उसी में लीन होती है। सात्विक, राजस और तामस भाव भी उन्हीं से प्रकट हुए हैं। भगवान के भक्त दु:खी, जिज्ञासु, स्वार्थी और ज्ञानी चार प्रकार के होते हैं। संसार में दो प्रकार के जीव निवास करते हैं—देव स्वभाव वाले और आसुरी स्वभाव वाले। निर्भयता, अन्त:करण की शुद्धि, ज्ञान और योग की निष्ठा, इन्द्रियनिग्रह, यज्ञ, वेदाध्ययन, तप, सीधापन, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति, चुगली न करना, प्राणिमात्र पर दया, निर्लोभ, लज्जा और अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, अपने को बड़ा न समझना, ये 26 गुण देवी श्रेष्ठ लोगों के होते हैं। गीता में शरणागति की भी प्रधानता है क्योंकि सभी धर्मों का आश्रय छोड़कर भगवान का ही आश्रय लिया जा सकता है।

हिन्दू धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थ

हिन्दू धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थों में आने वाले स्मृति ग्रन्थों की विषय-वस्तु विस्तृत है। 'स्मृति' शब्द के विशिष्ट अर्थ में स्मृतियों के अन्तर्गत धर्मशास्त्र तथा प्रजा के लिए आचार-विचार, नीति, सदाचार, आदि सम्बन्धी ग्रन्थों की गणना की जाती है। स्मृतियों में जगत-धर्म, वर्णाश्रम-धर्म, आचार-विचार एवं राजधर्म आदि का विवेचन है। स्मृतियों के अनुसार धर्म का मूल सिद्धान्त मानवीय गौरव को प्राप्त करना है। सब धर्मों का सर्व स्वीकृत यह ज्ञान है कि परमात्मा प्रत्येक जीवित प्राणी के हृदय में निवास करता है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और क्रोध न करना—ये दस धर्म के लक्षण हैं। नष्ट हुआ धर्म ही व्यक्ति को मारता है और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है।

हिन्दू धर्म में धर्म सूत्रों और गुह्य सूत्रों का भी योगदान है। धर्म सूत्रों में नीति, धर्म, रीति, प्रथाओं, चारों वर्णों और आश्रमों के कर्तव्यों और सामाजिक नियमों का वर्णन है। गृह्य सूत्रों में 16 संस्कारों, गृह-यों और कर्मकाण्डों का वर्णन किया है। गौतम के अनुसार संस्कारों की संख्या 40 है। संस्कार का साधारण अर्थ किसी वस्तु को ऐसा रूप देना है जिसके द्वारा वह अधिक उपयोगी

बन सके। प्रत्येक संस्कार का अपना महत्व है। प्राचीन भारत में समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए संस्कार सम्पन्न होना आवश्यक था। आत्मा के प्रमुख संस्कारों में गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्त, जातकर्म, नामकरण, कर्णभेद, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, विवाहादि प्रमुख हैं। इनके साथ ही साथ दैनिक आचरणों की व्याख्याएँ भी सम्मिलित हैं। अनेक संस्कारों का शारीरिक, बौद्धिक विकास एवं सामाजिक जीवन को सुखमय व्यतीत करने के लिए योगदान स्वीकार किया गया है। किन्तु इनके सम्पन्न होने के नियमों में अधिकाधिक जटिलता और आडम्बरपूर्णता बढ़ने से धर्म के क्षेत्र में बाह्याचार की वृद्धि हुई। इनसे धर्म की आन्तरिक आध्यात्मिक उपलब्धि में सहयोग प्राप्त नहीं हुआ।

हिन्दू धर्म और पुराण

हिन्दू धर्म का विवेचन पुराणों में विस्तार के साथ किया गया है। पुराणों में विष्णु, शिव और शक्ति इन तीनों रूपों को भक्ति का आधार माना गया है जिनको केन्द्र में रखकर भक्ति, धर्म और दर्शन के स्वरूप का वर्णन समाज के सन्दर्भ में किया गया है। धर्म का सार सुनो, सुनकर उसे धारण करो, जो बात अपने को प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरों के लिए भी काम में न लाओ। जो परायी स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और सम्पूर्ण जीवों को अपनी आत्मा के समान समझता है, वही ज्ञानी है।

पुराणों के प्रमुख पाँच लक्षण हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित। सर्ग के अन्तर्गत सृष्टि की आदिम वंशावली, मन्वन्तर के अन्तर्गत सृष्टि के नियामक मनुष्यों के अधिकार और उनके कालों की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन एवं वंशानुचरित के अन्तर्गत सूर्य-चन्द्रवंशीय राजाओं के कुलों का वर्णन है। इस क्रम से पुराणों में धार्मिक दृष्टि से सृष्टि का विकास एवं इतिहास वर्णित है।

पुराणों में अवतारवाद और बहुदेवोपासना को बल प्रदान कर उनका प्रचार किया गया है। उनमें अनेक देवताओं के धार्मिक महत्व का कथन होते हुए भी विष्णु, शिव, ब्रह्म, अग्नि और सूर्य को प्रमुखता प्रदान की गयी है। प्रत्येक पुराण में किसी एक देवता को प्रधानता दी गयी है। किन्तु अन्य देवताओं को भी उसमें स्वीकार किया गया है। हिन्दू धर्म में पुराणों में श्रीमद्भागवत पुराण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

श्रीमद्भागवत पुराण में चतु: श्लोकी भागवत के अन्तर्गत चार श्लोकों में श्रीकृष्ण ब्रह्माजी को समझाते हैं कि "सृष्टि के पूर्व केवल मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था, न सूक्ष्म और न तो दोनों का कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि है वहाँ मैं ही मैं हूँ। इस सृष्टि के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ। और जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ। वास्तव में न होने पर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मा में दो चन्द्रमाओं की तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है, अथवा विद्यमान होने पर भी आकाश मण्डल के नक्षत्रों में राहु की भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझना चाहिए। जैसे प्राणियों के पंचभूत रहित छोटे-बड़े शरीरों में आकाशादि पंचमहाभूत उन शरीरों के कार्यरूप से निर्मित होने के कारण प्रवेश करते भी हैं और पहले से भी उन स्थानों और रूप में विद्यमान रहने के कारण प्रवेश करते भी हैं और पहले से भी उन स्थानों और रूप में विद्यमान रहने के कारण प्रवेश नहीं भी करते, वैसे ही उन प्राणियों के शरीर की दृष्टि में उनमें आत्मा के रूप में प्रवेश किए हुए हूँ और आत्म-दृष्टि से अपने अतिरिक्त और कोई न होने के कारण उनमें प्रविष्ट नहीं हूँ। यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं—इस प्रकार निषेध की पद्धति से यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं वे ही वास्तविक तत्त्व हैं। जो आत्मा अथवा परमात्मा का तत्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जानने की आवश्यकता है।"

श्रीमद्भागवत् महापुराण में ईश्वर के 24 अवतारों की कथा एवं गणना है। जैसे अगाध सरोवर से छोटे-बड़े नाले निकलते हैं, वैसे ही सत्य निधि भगवान के असंख्य अवतार हुआ करते हैं। ऋषि, मुनि, देवता, प्रजापति, मनु-पुत्र और जितने भी महान शक्तिशाली हैं, वे सबके सब भगवान के ही अंश हैं। ये सब अवतार तो भगवान के अंशावतार या कलावतार हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान (अवतारी) ही हैं।

निष्कर्ष : समन्वय की स्थापना

हिन्दू धर्म में पुराणों का विशेष महत्व इसलिए भी है कि इनके द्वारा हिन्दू धर्म को सरल, सुबोध एवं रोचक भाषा-शैली में जनता के सम्मुख उपस्थित किया गया है। पुराणों के अवतारवाद से सभी धर्म-सम्प्रदाय प्रभावित हुए हैं। पुराणों में अवतारवाद के माध्यम से विविध धर्मों—बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त आदि की मान्यताओं और शास्त्र और दर्शन को आत्मसात् करके उन्हें सन्तुलित ढंग से प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास किया गया है। भारत के धार्मिक ज्ञान एवं विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नहीं और भारत के सामाजिक एवं ऐतिहासिक जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं, जिसका उद्घाटन पुराणों में न किया गया हो। इसलिए पुराणों को हिन्दू धर्म, विद्या और कलाओं का विश्वकोश कहा जाता है। पुराणों की कथाओं का प्रचार इतना अधिक बढ़ गया कि उनमें अनेक प्रक्षेपक अंश अनेक रूपों में जुड़ गये जिन्हें निकालना असम्भव कार्य है। यद्यपि पुराणों में लौकिक एवं धार्मिक जीवन में अनेक देवी-देवताओं, इष्टों और उपास्य देवों का रूप प्राप्त करते रहे किन्तु वे सब एक ही शक्ति के प्रतीक हैं। अत: उनकी उपासना पद्धति ने लौकिक और धार्मिक जीवन में सर्वधर्म समन्वय या सर्वधर्म समभाव का स्वरूप प्रस्तुत किया है जिसमें ऋग्वेद का वही भाव है कि उस 'एक' मूल तत्व को ही मनीषी अनेक नामों से कहते हैं। व्यास जी की मान्यता है कि अग्नि तो वस्तुत: एक ही है, परन्तु जब वह अनेक प्रकार की लकड़ियों में प्रकट होती है, तब अनेक सी मालूम पड़ती है। वैसे ही सबके आत्मरूप भगवान तो एक ही हैं परन्तु प्राणियों की अनेकता से अनेक जैसे जान पड़ते हैं। यही कथन सभी धर्मों पर भी लागू होता है।

5

शैव, वैष्णव एवं शाक्त धर्म

शैव, वैष्णव एवं शाक्त धर्म हिन्दू धर्म के ही परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप हैं। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि शिव के उपासक ही शैव धर्मानुयायी हैं। शिव का स्वरूप किस प्रकार उद्भासित हुआ, इसे जानने के लिए हमें पूर्व वैदिक युग के देवता पशुपति, वेदों के देवता रुद्र, उपनिषदों के देवता शिव एवं पुराणों के देवता शिवलिंग को एकाकार करना होगा एवं यह देखना होगा कि यह देवता शैवागमों में किस प्रकार परम शिव में अन्तर्भूत होकर उसी के पर्याय हो गये।

शिव तत्त्व का मूल स्रोत हमें किसी न किसी रूप में ऋग्वेद से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वेद में हमें विभिन्न देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है, जैसे—मित्र, वरुण, अग्नि, रुद्र, इन्द्र आदि जो अनन्य शक्तियों एवं गुण वैभव से युक्त हैं। इन देवों में रुद्र एक साधारण देव के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। वे प्रकृति की उग्र शक्तियों के प्रतीक हैं और उनसे निरन्तर यही प्रार्थना की गई है कि वह उनके पशु एवं सन्तानों की रक्षा करे। परन्तु ऋग्वेद के अन्य स्थलों में रुद्र शिव, मंगल और कल्याण प्रदान करने वाले देवता भी माने गये। यजुर्वेद का 'शतरुद्रीय' अध्याय तो शिवराधना के लिए प्रसिद्ध ही है। कृष्ण यजुर्वेद में रुद्र और शिव एक देवता माने गये जो दो विभिन्न शक्तियों, उग्रता और शान्ति के प्रतीक थे। उनसे प्रार्थना की गई है—"पर्वतों पर वास करने वाले रुद्र, तुम अपने मंगलमय, शान्त एवं कल्याणकारी स्वरूप से हमारा मंगल करो।" जिससे स्पष्ट होता है कि इस काल तक आते-आते तो रुद्र का रूप शिव में परिणत हो गया जिसका ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में और अधिक विकास हुआ। श्वेताश्वतरोपनिषद् में रुद्र और शिव को सृजन, संरक्षण और संहार करने वाले परम ब्रह्म मानकर स्तुति की गई है—

"वह निर्विकल्प होकर भी सविकल्प है। वह अणुओं में अणुतम एवं महानों में महानतम है, वह मन और वाणी की पहुँच से परे है। वह निर्गुण, निरुपाधि, निरंजन और अव्यय है। वह रक्त, पीत, नील, श्वेत वर्ण का नहीं है और वह ब्रह्म शिव के नाम से अभिहित है।"

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पुराणों में भी शिव-वर्णन के अनेक रूप उपलब्ध हैं। महाभारत के भीष्म-पर्व में अर्जुन के द्वारा पाशुपतास्त्र माँगने और प्राप्त करने का वर्णन है। अनुशासन पर्व में कृष्ण के द्वारा महादेव के माहात्म्य का वर्णन मिलता है।

शिव पुराण का तो प्रधान विषय ही शिव के स्वरूप के माहात्म्य एवं साधना का निरूपण है। वही समुद्र मंथन से उत्पन्न विष का पान कर वह देवसृष्टि की रक्षा करता हुआ नीलकंठ कहलाया और अपने माहात्म्य के कारण ही 'महादेव' की उपाधि से विभूषित हुआ।

ऊपर किये गये विवेचन से हमें शैव धर्म की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता का स्पष्ट रूप से ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्य में जो रुद्र एवं शिव के अनेक रूपों से सम्बन्धित वर्णन मिलते हैं, उनसे शैव धर्म एवं दर्शन के बीज तत्वों का उत्तरोत्तर विकास दिखाई पड़ता है। वैदिक काल के भयानक रुद्र देवता में मानुषी प्रवृत्तियों, मंगलमयी एवं कल्याणमयी जो भावना का मिश्रण होता गया, इसमें सिन्धु घाटी के धर्म का भी प्रभाव था। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई में जो योगस्थ शिव की मूर्तियाँ, शिवलिंग की मूर्तियाँ और पशुपतिनाथ की मूर्ति मिली हैं, उनसे यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि ऋग्वेद काल से ही यहाँ शिव की उपासना प्रचलित थी और यह मंगलमय देवता के रूप में पूजित थे। ऊपर लिखे विवरण से भी यह स्पष्ट हो रहा है कि आर्यों ने रुद्र को शिव के रूप में बाद में ही देखा। यहाँ यह भी कह देना अनुचित न होगा कि पुराणों में एक नहीं, अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ पर शिव को असुरों का देवता कहा गया है, यही कारण है कि बाणासुर राक्षस आदि सभी असुर शिवोपासक माने जाते हैं।

शिव अनार्यों के देव थे इस अनुमान का आधार यह भी है कि उत्तर भारत में शिव और उमा की ही पूजा प्रचलित है किन्तु दक्षिण भारत में शिव के पूरे परिवार की पूजा का बड़ा ही व्यापक प्रचार है। उत्तर भारत में कार्तिकेय की मूर्ति विजयादशमी के अवसर पर दुर्गा के साथ बनाई जाती है और गणेश अक्सर शुभ और लाभ के बीच दुकानों पर बिराजा करते हैं, लेकिन दक्षिण में दोनों भाइयों की विशाल मूर्तियाँ मिलती हैं जिनकी बनावट से वीरता टपकती है एवं दोनों की पूजा भी प्रचलित है।

गणेश की कल्पना भी शुद्ध आर्य कल्पना नहीं प्रतीत होती। गणेश के गजमस्तक होने की बात ही इस बात का प्रमाण है। मनुष्य की देह में हाथी का मस्तक लगाये हुए उनका भयानक रूप ही पहले प्रचलित था लेकिन जब आर्यों ने उन्हें ग्रहण किया तो उनका रूप बदलने लगा और वे विघ्नेश से विघ्नहर हो गये। कार्तिकेय एवं गणेश की पूजा उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में अधिक प्रचलित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शैवों के देवता शिव आदि का स्वरूप आर्य एवं अनार्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण से ही प्रादुर्भूत हुआ है।

इसी स्थल पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किस प्रकार शनैः-शनैः शिवलिंग उस परम ब्रह्म शिव का पर्याय हो गया एवं शिव के स्थान पर शिवलिंग की पूजा प्रतिष्ठित हुई। शिवलिंग पूजा का प्रचलन सैन्धव धर्म में भी था एवं इधर पौराणिक काल में शिव लिंग को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, ऐसे संकेत भी मिलते हैं। शिव लिंग एवं शिव एक है, इस अद्वय की भावना ने ही लिंग को केवल स्थूल एवं सगुणत्व का प्रतीक न रखकर परम शिव का पर्याय बना दिया। शैवों के धार्मिक सिद्धान्त शैवागमों में लिखित हैं। शैवों का विश्वास है कि ये स्वयं शिव द्वारा प्रणीत हैं एवं शिव और पार्वती के प्रश्नोत्तर के कारण ही इन आगमों की उत्पत्ति हुई।

शैवों के पाशुपत, शैव, कापालिक एवं कालामुख ये चार विशेष सम्प्रदाय मिलते हैं। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त वीर शैव मत एवं काश्मीर शैव मत के नाम से दो उत्तरकालिक सम्प्रदाय मिलते हैं। इस प्रकार शैवों के छः सम्प्रदाय हुए।

वैष्णव धर्म

वैष्णव धर्म हिन्दू धर्म के प्राचीनतम रूपों से निर्गत उसी धर्म का विकसित एवं परिवर्तित रूप है। यह धर्म बड़ा ही व्यापक एवं उदार है। सुगम भक्ति मार्ग इस धर्म की अपनी अपूर्व देन है। इस धर्म के अनुसार प्रत्येक भक्त चाहे वह किसी जाति व वर्ण का हो, अपने इष्ट की अपार दया का अधिकारी है। यह धर्म सच्चे प्रेम व श्रद्धा के साथ भक्त को अपने इष्ट की पूजा करने का पूर्ण अवसर देता है। इसी कारण आज उत्तर से दक्षिण, पूरब से पश्चिम सम्पूर्ण भारतवर्ष वैष्णव जनों से मंडित है एवं शैव धर्म की तुलना में इसने एक व्यापक रूप धारण किया।

साधारण शब्दों में 'विष्णु' देव के उपासक वैष्णव कहलाते हैं। परन्तु विष्णु देव किस प्रकार वैष्णव धर्म के इष्ट देव बने, इस विकास का क्रम वैदिक काल से ही प्रारम्भ होता है। विष्णु का वर्तमान स्वरूप वैदिक, उपनिषिदिक, पौराणिक आदि कालों में विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि नामों से पूजित देवता के सम्मिश्रण से ही बना है अथवा उन्हीं का ही एक बदला हुआ स्वरूप है।

वैदिक काल में संहिता ग्रन्थों की रचना तक विष्णु एक साधारण देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। ऋग्वेद में एक स्थल पर विष्णु को तीन पगों में ही ब्रह्माण्ड को नापने वाला बताया गया है। इसमें से प्रथम दो पगों को पृथ्वी और अन्तरिक्ष को नापने वाला बताया गया है जो मनुष्य द्वारा देखा जा सकता है किन्तु विष्णु के तृतीय पद को अलौकिक और आनन्दमय माना गया है। इस तृतीय पद को विष्णु का परम पद कहा गया है। कहीं-कहीं विष्णु को यज्ञ का मूल देवता कहा गया है। शनैः-शनैः विष्णु की प्रतिष्ठा बढ़ती गई। ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु और यज्ञ को एक ही कहा गया है एवं विष्णु को यज्ञ का सहायक कहा गया। देवेन्द्र का पद इन्द्र से हटकर विष्णु के लिए प्रयोग किया गया एवं उसे अग्नि एवं इन्द्र से भी श्रेष्ठ समझा गया। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि विष्णु का माहात्म्य धीरे-धीरे बढ़ा और उनमें अलौकिक शक्तियों के प्रादुर्भाव की कल्पना की गई।

वैष्णव धर्म में 'नारायण' नाम से पूजित देवता का भी सम्मिश्रण मिलता है। वैदिक सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि सभी देवताओं और मानवों का लक्ष्य नारायण है और वे उनके आधार स्वरूप भी हैं। वैदिक काल में ही नारायण शब्द विष्णु के पर्याय रूप में प्रयुक्त होने लगा। नारायण को विष्णु से सम्बन्धित कर दिये जाने के कारण ही विष्णु को सृष्टि विषयक कार्यों का केन्द्र माना गया।

पौराणिक काल में भागवत, सात्वत एवं पांचरात्र धर्मों का उल्लेख मिलता है। भागवत धर्म में 'भगवत', सात्वत में वसुदेव-देवकी पुत्र वासुदेव एवं पांचरात्र में देवकी-पुत्र कृष्ण या नारायण उपास्य देव थे परन्तु कालान्तर में ये तीनों देवकी-पुत्र वासुदेव कृष्ण के ही पर्याय हो गये। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म के देवता विष्णु का उदय वैदिक विष्णु, नारायण एवं वासुदेव कृष्ण के सम्मिलन से हुआ है। वैष्णव धर्मानुयायी विष्णु की पूजा चक्रधारी, चक्रपाणि, जनार्दन, नारायण, वासुदेव देवकीनन्दन, गदाधर, लक्ष्मीपति आदि नामों से करते हैं।

वैष्णव धर्म भक्ति प्रधान धर्म है। बौद्धों के प्रभाव से इसमें अहिंसा को प्रधानता दी गई। वैष्णवों में मूर्तियों से सजे मन्दिरों में जाने, पूजा की सामग्री एकत्र करने तथा पूजा पद्धति, मंत्रों को पढ़ने, भक्ति एवं प्रेम से ईश्वर की उपासना करने की विशिष्ट प्रथाएँ हैं। वैसे तो वैष्णव लोग विष्णु

के 24 अवतार मानते हैं लेकिन ये दस अवतार मुख्य माने गये हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, बलराम, राम, कृष्ण और कल्कि। इन दस अवतारों में भी राम और कृष्ण की पूजा सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है। राम और कृष्णोपासक वैष्णवों में प्रमुख हैं। राम की भक्ति निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों में पाई जाती है। कृष्णोपासकों को भी दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। कुछ राधा-कृष्ण के उपासक हैं और कुछ रुक्मिणी- कृष्ण के। राधा-कृष्ण के उपासक वैष्णव भक्त उत्तरी भारत में तथा रुक्मिणी-कृष्ण के उपासक महाराष्ट्र में अधिक पाये जाते हैं।

दक्षिण भारत में वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार नवीं शताब्दी के आस-पास हुआ। दक्षिण में इस धर्म के अनुयायी भक्त (आलवार) एवं आचार्य दो कोटियों के हैं।

आलवार सीधे-सच्चे भक्त थे जिनके हृदयों में भगवान विष्णु के साकार स्वरूप के लिए निर्मल अनुराग व अटूट भक्ति थी। इन लोगों ने भक्ति में डूबकर तमिल भाषा में भजनों की रचना की और जाति-पाँति के आपसी भेदभाव को दूर कर भक्ति के माध्यम से भगवान से सम्बन्ध स्थापित किया। ये आलवार भक्त कुछ निम्न जाति के थे, पर वे श्रेष्ठ कोटि के वैष्णव भक्त थे। इनमें नम्मालवार एवं गोदाआण्डाल प्रसिद्ध हैं। आचार्य वैष्णव भक्त वे थे जो शास्त्रार्थ के द्वारा अपने मत की स्थापना करते थे एवं अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए यत्न करते थे। इन आचार्यों में श्री वैष्णव सम्प्रदाय एवं विशिष्टाद्वैत के समर्थक रामानुज, द्वैत के समर्थक मध्व, द्वैताद्वैत के समर्थक निम्बार्क प्रमुख हैं। इन सभी ने युक्तिपूर्वक जाति-पाँति का खण्डन किया, कैंकर्य एवं प्रपत्ति-भाव से भगवान की शरण में आने से भक्त मुक्ति प्राप्त कर सकता है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

शाक्त धर्म

शाक्त धर्म के मूल में शक्ति की उपासना है। शक्ति के उपासकों को शाक्त कहा जाता है। शक्ति की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के विषय में यह कहना उचित ही होगा कि शक्ति का सिद्धान्त भी उतना ही प्राचीन है जितना प्राचीन सैन्धव धर्म एवं वैदिक धर्म है। भारत में प्रारम्भ से ही शक्ति की उपासना और योग की परम्परा प्रचलित थी। सिन्धु घाटी में जिन प्राचीन सभ्यताओं के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं उनमें मातृ देवी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिसे शक्ति या मातृ-उपासना का रूप कहा जा सकता है वह उनकी इष्ट देवी की थी एवं जिसकी पूजा वे करते थे।

वेदों में भी हमें अनन्त आद्या महाशक्ति की स्तुति के सूक्त मिलते हैं। ऋग्वेद संहिता के 'वाग्म्भृणी सूक्त' के अन्तर्गत वाग्देवी का जो उल्लेख मिलता है, उसे शाक्त धर्म की आधारशिला कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन्द्र, वरुण, यम, सोम, ब्रह्म की शक्तियों का भी आह्वान वेदों में मिलता है। अथर्ववेद के 'देवी सूक्त' एवं श्री सूक्त में महाशक्ति का स्तवन मिलता है। छांदोग्योपनिषद् में शक्ति को सर्वोच्च तथा संसार की पालनकर्त्री कहा गया है परन्तु इस समय जो शक्ति का वर्णन है, वह धनदात्री, शत्रुविनाशिनी आदि रूपों में ही अधिक है।

पौराणिक काल में आगे चलकर हमें इस शक्ति की देवी का रूप बदला हुआ दिखाई देता है। देवी भागवत, देवी पुराण, कल्कि पुराण, मार्कण्डेय पुराण आदि में महाशक्ति की अनन्य महिमा गाई गई है। पुराणों में शक्ति देव पत्नियों के रूप में भी वर्णित हैं एवं उनके नाम ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नरसिंही एवं रुद्राणी हैं। तान्त्रिक ग्रन्थों में शक्ति के इस सुकुमार रूप ने भयानक रूप धारण किया और उसकी विकरालता, भयंकारता आदि प्रवृत्तियों के

अनुरूप ही उनके भयंकर रूपों की उपासना चल पड़ी और वह काली, कराली, चंडी, महाकाली के रूप में सामने आई जो जगत की आद्या शक्ति है।

शक्ति पूजा पद्धति अति गोपनीय है। जनसाधारण में इसके विषय में अनेक भ्रम हैं। जो कुछ भी जानकारी प्राप्त होती है, वह शाक्त तंत्रों से ही होती है। शाक्त तंत्रों की संख्या यद्यपि 1,000 से ऊपर है, पर इस विशाल साहित्य का बहुत थोड़ा अंश प्रकाशित है। शाक्त धर्म का परम लक्ष्य जीवात्मा को परमात्मा से मिलाने का है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी स्त्री को पुरुष से उत्तम मानते हैं क्योंकि शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है अत: ये जगत् की आद्या शक्ति स्त्री को ही मानते हैं।

वर्तमान समय में शाक्त उपासक बंगाल तथा आसाम में अधिक पाये जाते हैं, जहाँ पर शक्ति की पूजा संहारकारिणी एवं दैत्य विनाशिनी के रूप में है। इन प्रदेशों में शक्ति के सर्वप्रिय रूप में काली एवं दुर्गा हैं। इन देवियों की मूर्तियों के आगे पशु बलि तथा नर-बलि आदि की प्रथा है। काली की प्रतिमा को एक उल्लासपूर्ण मुस्कराती हुई क्रूर यौवना के रूप में अपने पति शिव के धराशायी शरीर पर नृत्य करते हुए दर्शाया गया है। उसके हाथों में धड़ से कटे नरमुण्ड तथा कटार हैं। रक्तपान द्वारा ही वह तृप्त होती है अत: अब भी इस उपासना पद्धति में पशु-बलि का महत्त्व है।

इनके साधना के सिद्धान्त गुह्य हैं जिन्हें सिद्ध गुरुओं के द्वारा अपने शिष्यों के दोषों का निवारण करने के पश्चात् ही दिया जाता है। अत: इस सम्प्रदाय में दीक्षा का विशेष महत्त्व है क्योंकि बिना गुरु एवं दीक्षा के सिद्धान्तों को समझा नहीं जा सकता।

●

6

भारतीय दर्शन में धर्म विचार

भारतीय दर्शन की उत्पत्ति का मूल आधार आध्यात्मिक विचार है। भारतीय दर्शन में धर्म को अपने में समाविष्ट करते हुए उसके लक्ष्य और पद्धति दोनों का निर्देश किया गया है। दार्शनिक चिन्तन की प्रेरक शक्ति मानवता की उत्कट जिज्ञासा-वृत्ति के साथ-साथ पूर्णत्व की ओर बढ़ने की प्रबल लालसा है। भारतीय दार्शनिकों का प्रमुख उद्देश्य मानव जीवन के त्रिविध (आध्यात्मिक, अधिदैविक एवं आधिभौतिक) दु:खों को दूर करने का उपाय ढूँढ़ना था, न कि तात्त्विक प्रश्नों पर मात्र विचारों का प्रकटीकरण। भारतीय दर्शन की अभिरुचि मोक्ष-धर्म की ओर अधिक रही। भारतीय मनीषी अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त गुरु को खोजते हुए अपना सब कुछ त्याग देने के लिए तत्पर रहते थे।

दर्शन वह है जिसके द्वारा वस्तु का तात्त्विक स्वरूप उद्घाटित हो। परम्परा के आधार पर भारतीय दर्शनों को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया गया है—(1) नास्तिक दर्शन, (2)आस्तिक दर्शन। यह वर्गीकरण वेद के प्रमाण्य की स्वीकृति एवं अस्वीकृति पर आधारित है। चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन प्रथम वर्ग में आते हैं। चार्वाक दर्शन—चार्वाक (चारु + वाक् = सुन्दर वाणी) मत के आदि गुरु आचार्य वृहस्पति माने जाते हैं। यह पूर्णरूपेण भौतिकवादी दर्शन है। उसकी संरचना का आधार जनरुचि ही प्रतीत होती है। इसे लोकायत (लोक में फैला हुआ) दर्शन भी कहते हैं। उसका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। चार्वाक मतानुसार एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण की ही सत्ता है, इसलिए ईश्वर, पुनर्जन्म, स्वर्ग अथवा मोक्ष जैसे अतीन्द्रिय तत्त्वों की बातें अनर्गल प्रलाप हैं। ये शरीर से भिन्न नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इनका कथन है कि चैतन्य चार महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) का विकारमात्र है अर्थात् जड़-पदार्थों के विकार से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जैसे पान, सुपारी और चूने के योग से पान की लाली निकलती है। ये सृष्टि-प्रक्रिया को स्वाभाविक मानते हैं तथा लोक सिद्ध राजा को ही परमेश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं। चार्वाक मतानुयायी जोर देकर कहते हैं कि जीवन का लक्ष्य इसी जीवन का सुख है। जैन और बौद्ध दर्शनों का विवेचन आगे जैन धर्म के अन्तर्गत किया जायगा।

आस्तिक दर्शनों में दो प्रमुख विषयों पर सूक्ष्म एवं गम्भीर चिन्तन हुआ—(1) आध्यात्मविद्या अर्थात् मोक्षतत्त्व और (2) ज्ञान-मीमांसा अर्थात् प्रमाण-मीमांसा। मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी मोक्ष के लिए उपादेय साधन के रूप में तत्त्वज्ञान (आत्म-साक्षात्कार) का विवेचन किया गया है। प्रमाणों के द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, इसलिए प्रमाणों का सभी

दर्शनों में सूक्ष्म एवं विशद् विवेचन किया गया है। आस्तिक दर्शन छ: हैं–न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त दर्शन।

न्याय दर्शन–न्याय दर्शन के प्रतिष्ठापक महर्षि गौतम हैं। पदार्थवादी होते हुए भी उन्होंने वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। मानव-जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य नि:श्रेयस (मोक्ष) के विषय में गौतम का विचार है कि प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से त्रिविध दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है। जिन साधनों से तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, उनका सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विवेचन न्यायशास्त्र में किया गया है, इसी कारण इसे प्रमाण शास्त्र भी कहते हैं। इन्होंने चार प्रमाणों को स्वीकार किया है–(1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) उपमान, और (4) आगम प्रमाण।

नैयायिकों ने प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में लौकिक सन्निकर्ष [इन्द्रिय और ज्ञेय पदार्थ का वह सम्बन्ध सन्निकर्ष कहलाता है, जिससे ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है] के अतिरिक्त अलौकिक सन्निकर्ष को भी अंगीकार किया है। अलौकिक सन्निकर्ष के तीन प्रकारों (सामान्य-लक्षणा, ज्ञानलक्षणा एवं योगज) में योगज सन्निकर्ष से साधक की आत्मा में विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। योगज सन्निकर्ष के माध्यम से योगी को समस्त भूत, भविष्य और स्थूल एवं सूक्ष्म, समीपस्थ और दूरस्थ तत्त्वों का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है।

गौतम के द्वारा परिगणित प्रमेयों में आत्मा का सर्वप्रथम स्थान है। आत्मा के दो भेद हैं–जीवात्मा और परमात्मा। ईश्वर की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की गई है और जीवात्मा की सिद्धि योगज प्रत्यक्ष से। सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को माना गया है। इनके मत में सृष्टि का उपादन कारण परमाणु है। इस दर्शन में विचार पक्ष की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

वैशेषिक दर्शन–न्याय के समान वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने संसार की समस्त वस्तुओं के लिए 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। महर्षि कणाद ने छ: भाव पदार्थों का उल्लेख किया था, बाद में अभाव को भी स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हुए सात पदार्थों का विवेचन किया गया है। विश्व की असंख्य वस्तुओं को मात्र सात कोटियों में वर्गीकृत करना वैशेषिकों की अद्भुत बुद्धि की उपज है। सात पदार्थ इस प्रकार हैं–(1) द्रव्य, (2) गुण, (3) कर्म, (4) सामान्य, (5) विशेष, (6) समवाय, और (7) अभाव। वैशेषिक दर्शन दो ही प्रमाणों को स्वीकार करता है–प्रत्यक्ष तथा अनुमान।

वैशेषिकाचार्य उपर्युक्त सात पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति मानते हैं। अन्य विचार न्यायमत के समान हैं। वास्तव में, भौतिक जगत की व्याख्या वैशेषिक एवं सांख्य–दो दर्शनों में मौलिक रूप में की गई है। महर्षि कणाद की 'धर्म' की परिभाषा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार 'यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस सिद्धि: स धर्म:' अर्थात् जिससे लौकिक और पारलौकिक उन्नति और मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है।

सांख्य दर्शन–सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। सांख्य-सूत्र के छ: अध्यायों में प्रकृति परिणामवाद के आधार पर भौतिक जगत की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। सांख्य के अनुसार, प्रकृति संसार का मूल कारण है। प्रकृति त्रिगुणस्वरूप (सत्व, रजस् और तमस्–ये तीनों गुण ही हैं स्वरूप जिसका) नित्य सूक्ष्म एवं अचेतन है। इसे अव्यक्त भी कहते हैं। सांख्य दर्शन के अन्तर्गत प्रकृति के अतिरिक्त दूसरा निष्क्रिय, निर्गुण (तीनों गुणों

से रहित) है, फलत: अकर्ता एवं अभोक्ता है। सांख्य मत में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। प्रकृति व पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। विरोधी स्वभाव से युक्त प्रकृति व पुरुष के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए अन्धे व लँगड़े व्यक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति चलने की शक्ति से युक्त होकर भी दर्शन शक्ति के नष्ट हो जाने से मार्ग प्रदर्शक के रूप में लँगड़े व्यक्ति की सहायता लेकर अपने लक्ष्य स्थान तक पहुँच जाता है और अन्धा अपने कन्धे का सहारा देकर चलने की सामर्थ्य से रहित लँगड़े व्यक्ति को भी यथास्थान पहुँचा देता है, उसी प्रकार जड़ (किन्तु सक्रिय) प्रकृति चेतन (पर निष्क्रिय) पुरुष के संयोग से पुरुषार्थ (पुरुष के भोग व अपवर्ग) की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होती है। पुरुष के सामीप्य से प्रकृति में जो प्रथम विकार **महत्तत्त्व** के रूप में उत्पन्न होता है, उसी महत्तत्व से अहंकार, अंहकार से पाँच तन्मात्राएँ (गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द) और ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन) उत्पन्न होती हैं। पाँच तन्मात्राओं से क्रमश: पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सांख्य में प्रकृति, पुरुष महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ–ये पच्चीस तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। इन तत्त्वों के ज्ञान के लिए तीन प्रमाणों को स्वीकार किया गया है–(1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, और (3) आगम प्रमाण।

सांख्य दर्शन में पुरुष (जीवात्मा) के बन्धन व मोक्ष का कारण अविवेक है। अविवेक के कारण पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध होता है। कर्त्तव्य यद्यपि प्रकृति के गुणों में है किन्तु प्रकृति के द्वारा उत्पन्न सुख-दु:ख का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है और ऐसी स्थिति में पुरुष सांसारिक सुख:दु:ख का भोक्ता बन जाता है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है कि सारे कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं, पर अहंकार से विमूढ़ चित्त वाला पुरुष 'मैं करता हूँ' ऐसा मानकर सुखी-दु:खी और गर्वित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अविवेक (प्रकृति व पुरुष भिन्न-भिन्न हैं, इस ज्ञान का अभाव) से उत्पन्न प्रकृति व पुरुष का सम्बन्ध बन्धन हैं, और विवेक-ज्ञान के पश्चात् इनका वियोग मोक्ष है। विवेक-सिद्धि के लिए उपर्युक्त 25 तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। विवेक-ज्ञान के पश्चात् प्रकृति के समस्त व्यापार से निवृत्त हो जाने पर पुरुष की मुक्ति (अपवर्ग) स्वत: सिद्ध है।

योग दर्शन–योग दर्शन के प्रतिष्ठापक महर्षि पतंजलि हैं। 'युज् समाधौ' धातु से योग शब्द निष्पन्न होता है। वस्तुत: योग समाधि ही है। पतंजलि योग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि–योग के द्वारा चित्त की चंचल वृत्तियों का संयमन होता है जिससे योगी ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित करने योग्य हो जाता है। योग को सेश्वर सांख्य कहा गया है। मूलभूत सिद्धान्तों में सांख्य व योग एकमत हैं, लेकिन योग ईश्वर को स्वीकार करता है। 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'–सूत्र द्वारा स्पष्ट उद्घोषणा की गई है कि ईश्वर की उपासना (भक्ति) द्वारा समाधि की सिद्धि होती है। **चित्तवृत्ति** को एकाग्र करने के लिए वीतराग पुरुष अर्थात् राग द्वेष आदि से विनिर्मुक्त सिद्धपुरुष या अपने प्रेम के पात्र पुरुष का ध्यान बताया गया है।

योग क्रिया-प्रधान दर्शन है। इसमें विचारपक्ष के साथ-साथ आचारपक्ष भी महत्त्वपूर्ण है। साधनपाद के योग के आठ साधनों पर बहुत जोर दिया गया है, इसी कारण इसे अष्टांगयोग भी कहते हैं। वे आठ साधन हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि।

मीमांसा दर्शन—मीमांसा शब्द का अर्थ है—गम्भीर चिन्तन। महर्षि जैमिनी इस दर्शन के प्रतिष्ठापक हैं। इसका विषय कर्मकाण्ड है। इसमें वेद के ब्राह्मण भाग को प्रमुखता दी गई है। मीमांसा का प्रधान उद्देश्य धर्म का प्रतिपादन है। धर्म के लिए प्रमाणभूत वेद है और वेद के द्वारा विहित (जिसका विधान किया गया है) इष्ट का साधन धर्म है—ऐसा माना गया है। यज्ञ के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति ही इसका लक्ष्य है।

वेदान्त दर्शन—वेदान्त दर्शन का प्रमुख आधार उपनिषद् है। महर्षि बादरायण इस दर्शन के प्रतिष्ठापक हैं।

वेदान्त के क्षेत्र में शंकराचार्य का अद्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतावाद, माधवाचार्य का द्वैतवाद और बल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद सम्बन्धी मत अधिक प्रसिद्ध हैं। वेदान्त-मतानुसार, मोक्षावस्था में दु:खों की निवृत्ति मात्र नहीं होती, अपितु परमानन्द की प्राप्ति भी होती है। मुक्ति (मोक्ष) दो प्रकार की मानी गई है—(1) जीवनमुक्ति और (2) विदेहमुक्ति। आत्म बोध हो जाने पर भी जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक तत्वज्ञ को शरीर धारण करना पड़ता है, यही जीवनमुक्ति है। प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाने पर शरीर त्याग द्वारा जीव ब्रह्म में लीन होकर सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है।

भारतीय दर्शनों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में दर्शन और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा विभिन्न दर्शनों ने धर्म की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। धर्म एवं दर्शन दोनों का कार्य मानव को श्रेष्ठ जीवन का स्पष्ट मार्ग दिखलाना है।

●

7

भक्ति मार्ग : उद्भव और विकास

भक्ति का अर्थ और उसका स्वरूप

'भक्ति' शब्द संस्कृत की 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय से मिलकर बना है। इसका शाब्दिक अर्थ 'सेवा करना' है। गुण ईश्वरोपासना के विकास के साथ भक्ति शब्द के अर्थ में भी व्यापकता आई और इसका अर्थ ईश्वर की सेवा, पूजा, उपासना तथा श्रद्धा करना हो गया। बाद में आराध्य के प्रति अनुरक्ति का नाम भी भक्ति हो गया और भक्ति को ईश्वर तथा मोक्ष प्राप्ति का साधन माना जाने लगा। अनुरक्ति में प्रेम, श्रद्धा, सेवा और सम्मान की भावनाएँ सम्मिलित रहती हैं। भगवद्गीता में मन और बुद्धि से प्रेमपूर्वक समर्पण ही भक्ति बतलाया गया। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भगवान में पूर्ण समर्पण का उपदेश दिया। 'मामेकं शरणं व्रज' ऐसे ही समर्पित व्यक्ति को कृष्ण ने अपना भक्त बतलाया—

"मय्यार्पित मनोबुद्धिर्योमद्भक्त:"

'शांडिल्य सूत्र' में 'ईश्वर के प्रति परम अनुराग' को ही भक्ति बतलाया गया—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे"

'नारद भक्तिसूत्र' में ईश्वर के प्रति अमृतरूपा परम प्रेम को भक्ति कहा गया तथा ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान पर बल दिया गया, "सात्त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च। तथापि माहात्म्यज्ञान विस्मृत्यपवाद:तद्विहीनं जाराणामिव।"

अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा तथा अमृतरूपा है। इस (भक्ति) में ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिए। माहात्म्य ज्ञान से रहित भक्ति व्यभिचारियों के प्रेम के समान है।

आचार्य बल्लभ ने भी भगवान् में माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और सतत् स्नेह को भक्ति बतलाया।

इस प्रकार, उपर्युक्त मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि **"ईश्वर का माहात्म्य ज्ञान रखते हुए उसके प्रति प्रेम एवं श्रद्धा के साथ अपने को पूर्ण समर्पित कर देना ही भक्ति है।"**

भक्ति मार्ग का उदय

ईश्वरोपासना के बीज हमें वैदिक साहित्य में ही मिलते हैं। भारतीय धर्म साधना में ईश्वर तथा मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। वैदिक काल

में याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रधानता होने के कारण 'कर्ममार्ग' की ही प्रधानता थी। उपनिषद् काल में चिन्तन प्रधान 'ज्ञानमार्ग' की प्रधानता हुई। इसमें स्वाध्याय, सदाचार और आत्मचिन्तन को ही मोक्ष का साधन बताया गया। भक्तिमार्ग का अभ्युदय वैष्णव भक्ति के रूप में हुआ। सर्वप्रथम 'वैष्णव भक्ति' वासुदेवोपासना के रूप में प्रारम्भ हुई। ये वासुदेव वृष्णि वंशी वसुदेव के पुत्र 'वासुदेव श्रीकृष्ण' ही थे। **डॉ. भण्डारकर** के अनुसार 'वासुदेव' की पूजा पाणिनि काल में प्रचलित थी। इस प्रकार भारत में भक्ति का उदय ईसा की पाँचवीं शती पूर्व में माना जाता है। वैदिक देवता विष्णु जो तब एक छोटे देवता थे, भागवत धर्म में आकर 'वासुदेव' कहलाये। यहीं आकर नारायण और वासुदेव दोनों एक ही देवता के रूप में पूजे जाने लगे, जो मध्यकाल में विष्णु के अवतारी रूप कृष्ण और राम के रूप में पूजे गये।

महाभारत और गीता में भक्ति

महाभारत में अनेक स्थलों पर रागात्मक तत्त्व प्रधान भक्ति की चर्चा की गयी है। उसके एक अंश गीता में भक्ति की स्वतन्त्र रूप से चर्चा की गयी है। इसमें भक्ति का उपदेश देने वाले नारायण या वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय करते हुए भी भक्ति का ही अधिक महत्त्व बताया गया है।

शांडिल्य सूत्र तथा नारद भक्तिसूत्र में भक्ति

शांडिल्य तथा नारद ऋषि ने अपने सूत्र ग्रन्थों में वैष्णव भक्ति का स्पष्ट एवं उपासनापरक विवेचन किया। इन ऋषियों ने ही भक्ति को शास्त्रीय रूप प्रदान किया। शांडिल्य ने सभी भक्तों को एक समान बताया और ऊँच-नीच का भेद समाप्त किया। उन्होंने ब्राह्मणेतर भक्त को भी ईश्वर तथा मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी घोषित किया। इन्होंने 'शुद्धरागात्मिका वृत्ति' को भक्ति बतलाया तथा भक्ति के 'परा' एवं 'अपरा' दो भेद किये। नारद ने हृदय पक्ष को अधिक प्रधानता देते हुए 'प्रेमा भक्ति' को उत्कृष्ट बतलाया। सम्भवत: नारदीय 'प्रेमा भक्ति' से ही दक्षिण के वैष्णव भक्त आलवारों में 'रागानुगा' भक्ति का उदय हुआ। नारद ने भक्ति के लक्षणों में ईश प्रेम और श्रद्धा दोनों को महत्त्व दिया। इन्होंने भक्ति के साधनों में भगवत् गुण श्रवण, भजन, कीर्तन, वासनाओं का त्याग, महापुरुषों की कृपा और ईश्वरीय अनुकम्पा का उल्लेख किया।

पुराण साहित्य, भागवत धर्म और भक्ति

पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य बहुदेववाद और अवतारवाद है। विभिन्न पुराणों में विभिन्न देवताओं और अवतारों का वर्णन किया गया है। विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं के वर्णन के कारण 'श्रीमद्भागवत पुराण' को अत्यधिक प्रसिद्धि मिली। इसकी रचना दक्षिण में नवीं शती में 'वोपदेव' ने की थी। पुराणों में विष्णु षट् ऐश्वर्यों (ज्ञान, बल, वीर्य, ऐश्वर्य, शक्ति और तेज) से युक्त होने के कारण 'भगवत्' नाम से पुकारे गये। 'सात्वत् धर्म' के प्रवर्तक 'वसुदेव-देवकी पुत्र' 'वासुदेव' ही माने जाते हैं। ईसवीं शती के प्रारम्भ में 'वासुदेव' और 'सात्वत्' दोनों शब्द पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने लगे थे। वास्तव में भागवत, सात्वत और पांचरात्र मतों में देवकी पुत्र कृष्ण या नारायण की ही उपासना होती थी। ये सभी धर्म ईसा पूर्व पाँचवीं शती तक स्थापित हो चुके थे। इस प्रकार, वैष्णव भक्ति, पुराण काल तक प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुकी थी।

दक्षिण भारत में भक्ति

ईसवी सन् के प्रारम्भ होते-होते 'भागवत् धर्म' का प्रचार महाराष्ट्र तक हो चुका था और वहाँ वासुदेव तथा संकर्षण की पूजा होने लगी थी। ईसा की चौथी-पाँचवीं शती तक यही वासुदेवोपासना दक्षिण भारत में तमिल तक फैल गयी। छठी से नवीं शती तक दक्षिण में जैन और बौद्ध मतों को राज्याश्रय प्राप्त था। वे नास्तिक धर्म थे। अत: वैष्णवों और शैवों ने मिलकर एक धार्मिक क्रान्ति की जिससे उन धर्मों की नीवें हिल गयीं और उनकी शक्ति क्षीण हो गयी। दक्षिण के वैष्णवों (आलवारों) और शैवों (नायम्बारों) का उद्देश्य नास्तिक विचारों का विरोध कर आस्तिक विचारों का प्रचार कर सच्ची भक्ति भावना को जाग्रत करना था। आलवार भक्तों ने जो अधिकांशत: निम्न जाति के थे, भगवान की भक्ति में डूबकर 'भजन' बनाये जिन्हें तमिल भाषा में 'प्रबन्धम' कहा जाता है। आलवार और नायम्बार दोनों ने जनभाषा तमिल में अपने हृदय के उद्गारों को वाणी दी। उन्होंने जाति-पाँति का भेदभाव मिटाकर सभी के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया।

आलवार भक्तों में प्रसिद्ध बारह भक्त कवि हुए, इनमें 'नाम्मालवार' (शठकोप) और 'आण्डाल' नाम की स्त्री बहुत प्रसिद्ध हुई। आलवार वैष्णव भक्तों की दो श्रेणियाँ थीं—एक आलवार भक्त, दूसरे आलवार आचार्य। पाँचवीं से नवीं शती तक 'भक्ति काल' रहा और नवीं से चौदहवीं शती तक 'आचार्य काल'। नवीं शती में प्रथम आचार्य 'नाथमुनि' हुए। ये शठकोप के शिष्य थे। इन्होंने आलवार भक्तों के भजनों का संग्रह 'तमिल प्रबन्धम्' नामक ग्रन्थ में किया। इसमें संगृहीत पदों की संख्या लगभग चार हजार है। इनमें विष्णु के दो अवतारों—राम और कृष्ण, की भक्ति की प्रधानता है। भक्ति महिमा, नाम महिमा, गुरु महिमा, शरणागति तथा सत्संग महिमा के गीत इन पदों में गाये गये हैं।

आलवार आचार्य परम्परा का काल नवीं शती से चौदहवीं शती तक रहा। अब भक्ति ब्राह्मण आचार्यों के हाथ में आ गयी जो संस्कृत के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने इसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया। आचार्य काल से पूर्व शंकराचार्य (सन् 788-820) ने वाममार्गी वज्रयानी बौद्धों की नास्तिकता और भोगवाद तथा हिन्दुओं के कर्मकाण्ड के विरोध में अद्वैतवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने माया के सिद्धान्त द्वारा जगत् को मिथ्या ठहराया और वैराग्यमूलक निवृत्ति मार्ग का प्रवर्तन किया। किन्तु दक्षिण के आलवार आचार्यों, नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वचार्य, विष्णु स्वामी और निम्बकाचार्य ने अद्वैतवाद के मूलतत्त्व आत्म-परमात्मा की एकता को यथावत् ग्रहण करते हुए जगत के मिथ्यात्व के सिद्धान्त का खण्डन किया। इन सभी वैष्णव आचार्यों ने ब्रह्म के समान ही जीव और जगत् को भी सत्य बतलाया और शंकर के वैराग्यमूलक निवृत्ति मार्ग के स्थान पर प्रेममूलक प्रवृत्ति मार्ग का प्रतिपादन किया, जो वैष्णव भक्ति के नाम से सम्पूर्ण भारत में प्रख्यात हुआ।

रामानुजाचार्य (1017.1137 ई.)

रामानुजाचार्य यामुनाचार्य के शिष्य थे। इन्होंने सर्वप्रथम उत्तर भारत में आकर वैष्णव भक्ति का प्रचार किया और 'श्री वैष्णव सम्प्रदाय' की स्थापना की तथा अपने गुरु द्वारा प्रतिपादित 'विशिष्टाद्वैतवाद' के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। रामानुज ने शूद्रों को मन्दिरों में प्रवेश कराने का आग्रह किया। उनके मत से ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जीव और ब्रह्म में शेष-शेषी अथवा

अंश-अंशी का सम्बन्ध है। जीव और जगत् सत्य है तथा प्रलयकाल में भी ब्रह्म में सूक्ष्म रूप से स्थित रहते हैं। कैंकर्य भाव से भगवान की शरण में जाने से भी भक्त को मुक्ति मिलती है। इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर 'ऊँ नमोनारायणाय' अष्टाक्षरी मन्त्र की दीक्षा दी जाती थी। दक्षिण में इसके 'बडकले' और 'टैंकले' दो सम्प्रदाय हुए किन्तु उत्तरी भारत में यह अपने मूलरूप में ही प्रचलित रहा। इनकी शिष्य परम्परा से रामानन्द तथा तुलसी जैसे भक्त हुए जिन्होंने भक्ति को जन-जन तक पहुँचा दिया।

आचार्य मध्व या आनन्दतीर्थ (जन्म 1199 ई.) तथा चैतन्य महाप्रभु (1486-1535 ई.)

आचार्य मध्व का जन्म कनार्टक के कनारा जिले के 'उडुपी' नामक स्थान के समीप एक गाँव में हुआ था। इन्होंने भी रामानुज की तरह उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार किया। मध्व ने 'ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की तथा 'द्वैतवाद' के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। ये भगवान् विष्णु के सगुण-साकार रूप के उपासक थे। उनके मत से जीव श्री हरि का किंकर है तथा असंख्य है। वह आकार में अणु और स्वभाव से अल्पज्ञ है तथा सर्वज्ञ विष्णु के अधीन रहकर ही कर्म करता है। दास्य भक्ति द्वारा भगवत् अनुग्रह से ही जीव को भक्ति प्राप्त होती है।

चैतन्य महाप्रभु मध्व सम्प्रदाय में दीक्षित थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की उपासना का सूत्रपात किया तथा 'गौणीय सम्प्रदाय' की स्थापना की। उन्होंने दर्शन में मध्व के द्वैतवाद के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया। ये बंगाल के नवद्वीप के निवासी थे, बाद में वृन्दावन आकर रहे और राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। बंगाल, बिहार तथा उत्तर प्रदेश इनके प्रचार के प्रमुख क्षेत्र रहे। इनके सम्प्रदाय का अधिकांश साहित्य संस्कृत में लिया गया। हिन्दी में सूरदास, मदनमोहन, गदाधर भट्ट तथा चन्द्रगोपाल आदि प्रमुख भक्त कवि हुए। चैतन्य सम्प्रदाय में राधा और गोपिकाओं को 'परकीया' तथा कृष्ण को उपपति के रूप में वर्णित किया गया है। साम्प्रदायिक चेतना में गोपियाँ कृष्ण की नित्य प्रेयसियाँ हैं और राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति है। कृष्ण रति का मुख्य उद्देश्य प्रियतम श्रीकृष्ण को 'सुख' प्रदान करना है। कृष्ण गोलोक बिहारी हैं, वही उनका नित्यधाम है। औपपत्य की लीला इसलिए की जाती है क्योंकि इसमें प्रेम का तीव्र रूप और सान्द्रता अधिक रहती है। प्रारम्भ में 'परकीया भाव' की भक्ति खूब प्रचलित हुई किन्तु सत्रहवीं-अठारहवीं शती में इस प्रेम भावना ने बंगाल के जनजीवन में अनेक बुराइयाँ भर दीं। फलत: प्रत्येक व्यक्ति को भक्ति की ओट में एक उपपति या उपपत्नी रखना भक्ति का आवश्यक अंग बन गया। इसमें सामाजिक विकृतियाँ पैदा हुईं और उन्नीसवीं शती में इसी के विरुद्ध सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए।

निम्बार्क (जन्म 1162 ई.) तथा स्वामी हरिदास (16 शती)

निम्बार्क तेलुगु ब्राह्मण थे। इन्होंने 'सनक सम्प्रदाय' चलाया तथा 'द्वैताद्वैतवाद' के सिद्धान्त की स्थापना की। निम्बार्क ने सर्वप्रथम उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति का विधिवत् प्रचार किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम कृष्ण के साथ राधा की उपासना प्रारम्भ की। इन्होंने राधा को कृष्ण के वाम पार्श्व में स्थापित कर युगल मूर्ति की उपासना पर बल दिया। निम्बार्क ने राधा को 'स्वकीया' मानकर राधा का कृष्ण से विवाह होना स्वीकार किया। उनके मत से 'दैन्य भाव' से भगवान कृष्ण की भक्ति करने से ही मुक्ति प्राप्त होती है। 'प्रेम मूला' भक्ति से ही जीव का कल्याण सम्भव है। निम्बार्क ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत में भक्ति का प्रचार किया।

अकबरकालीन 'स्वामी हरिदास' इसी सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध भक्त एवं संगीतज्ञ हुए। उन्होंने 'सखि सम्प्रदाय' की स्थापना की। इसे 'हरिदासी सम्प्रदाय' के नाम से भी पुकारा जाता है। इन्होंने नित्य बिहारी राधा कृष्ण की निकुंज लीलाओं का गुणगान किया। सहज शृंगार रस में लीन होकर निकुँज लीला परायण कृष्ण की उपासना और नित्य बिहारी का दर्शन ही सहचरी या 'सखी भाव' काम्य है।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में इस सम्प्रदाय की एकान्तिक प्रेम साधना का जनजीवन पर बड़ा ही दूषित प्रभाव पड़ा जिससे भक्ति आन्दोलन शिथिल हो गया।

विष्णुस्वामी (13वीं शती) तथा बल्लभाचार्य (जन्म 1479 ई.)

विष्णुस्वामी ने 'रुद्र सम्प्रदाय' की स्थापना की तथा भक्ति के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनकी शिष्य परम्परा में आचार्य 'बल्लभ' हुए। बल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों का विशद् विवेचन किया तथा कुछ मौलिक स्थापनाएँ प्रस्तुत कीं। कृष्ण भक्ति आन्दोलन को उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रचारित और जन-जन तक फैलाने का श्रेय तैलंग ब्राह्मण आचार्य बल्लभ को ही है। उन्होंने 'शुद्धाद्वैतवाद' के मत का प्रतिपादन किया तथा 'पुष्टि मार्ग' चलाया जो इन्हीं के नाम पर 'बल्लभ सम्प्रदाय' भी कहलाया। इनके अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर ब्रह्म के ही तीन रूप हैं, अत: सत्य हैं। भगवत् प्राप्ति का एकमात्र साधन भक्ति है। भगवान के अनुग्रह या पुष्टि से ही मुक्ति प्राप्त होती है। इसलिए इनके मत को पुष्टि मार्ग कहते हैं। अब तक लगभग सभी आचार्यों ने दास्य भाव की ही भक्ति का प्रतिपादन किया था। आचार्य बल्लभ ने सर्वप्रथम 'सखा भाव' की भक्ति का प्रारम्भ किया। इसी से प्रभावित होकर इनके शिष्य सूरदास ने सखा भाव के अनेक और सुमधुर पद बनाये। इसी सम्प्रदाय में 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध आठ कवि सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास हुए। पुष्टि मार्ग में 'प्रेमाभक्ति' और 'विरह दशा' को बहुत महत्त्व दिया गया। इसमें ब्रज बिहारी श्रीकृष्ण के बाल, कुमार और किशोर रूप का नाना प्रकार से वर्णन किया गया। राधा स्वकीया है किन्तु गोपिकाओं का प्रेम भी 'कान्ता रति' का है।

श्री हितहरिवंश (जन्म 1502 ई.)

आचार्य हितहरिवंश ने 'राधाबल्लभ सम्प्रदाय' की स्थापना की। इन्होंने प्रेम को भक्ति का मूलाधार बनाया। इसी कारण इनके सम्प्रदाय में दार्शनिकता का एकांत अभाव है। आचार्य हितहरिवंश राधा के उपासक थे। इन्होंने राधा को स्वतन्त्र एवं पराशक्ति माना। राधा नित्य भाव है उसे 'प्रेमभाव' या 'हितभाव' भी कहा जाता है। कृष्ण स्वयं राधा के उपासक हैं। इस सम्प्रदाय में 'राधाकृष्ण' के 'नित्यविहार' रूप का सहचरी भाव (जीवात्मा) से दर्शन करना ही काम्य है। जीवात्मा का सखी या सहचरी भाव 'तत्सुखित्व' है, 'आत्मसुखित्व' नहीं। राधा-बल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने राधाकृष्ण के नित्य विहार के घोर शृंगारिक चित्र प्रस्तुत किये जो साम्प्रदायिक दृष्टि से तो ठीक थे किन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए वे घोर शृंगारिक नग्न चित्र थे। इस प्रकार कृष्ण भक्ति दास्य भाव, सख्य भाव, मधुरा भाव, सखी भाव आदि अनेकरूपों में वर्णित की गई। सत्रहवीं शती तक कृष्ण भक्ति का यही रूप रहा किन्तु अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में भक्ति भाव कम और वासनात्मक शृंगारिक चित्रण अधिक होने लगा। बीसवीं शती में युग के अनुरूप कृष्ण को महा-मानव तथा जननेता के रूप में चित्रित किया गया। हिन्दी में हरिऔध का 'प्रिय प्रवास' तथा द्वारिका प्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'भक्तिमत' प्रारम्भ में बौद्ध और जैन मतों के समान ही एक धार्मिक सुधार आन्दोलन के रूप में शुरू हुआ। भक्ति का उदय सर्वप्रथम वैष्णव भक्ति वासुदेवोपासना के रूप में हुआ जिसमें श्रद्धा-प्रेम और माहात्म्य ज्ञान भक्ति के मूल तत्त्व माने गये। महाभारत के बाद भक्ति का रूप साम्प्रदायिक हो गया और 'भागवत' या 'पाँचरात्र' धर्म में भक्ति का विधिवत् विवेचन किया गया। ईसा की पाँचवीं शती पूर्व तक आते-आते 'वासुदेवोपासना' नारायण और विष्णु की उपासना में घुल-मिल गयी। ईसवी सन् के प्रारम्भ होते-होते 'भागवत धर्म' में भगवान बालकृष्ण के दिव्य कार्यों एवं गोपियों के साथ उनकी रास लीला के रूप में उनका गुणगान होने लगा।

पाँचवीं-छठी शती में यह कृष्णोपासना उत्तर भारत से महाराष्ट्र होती हुई दक्षिण भारत पहुँची, जहाँ आलवार भक्तों ने भगवान कृष्ण के भक्तिपरक गीत गाये। नवीं शती में शंकराचार्य ने निर्गुणभक्ति, अद्वैतवाद तथा जगत् के मिथ्यात्व पर बल दिया किन्तु दक्षिण के आलवार वैष्णव आचार्यों—नाथमुनि, यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य ने शंकर के मायावाद का खण्डन कर 'विशिष्टाद्वैतवाद' की स्थापना की। दक्षिण के अन्य वैष्णव आचार्यों मध्व, निम्बार्क और बल्लभ ने सम्पूर्ण भारत में कृष्ण-भक्ति को फैला दिया। निम्बार्क या निम्बकाचार्य ने सर्वप्रथम कृष्णभक्ति में राधातत्त्व का समावेश कर राधाकृष्ण की युगम मूर्ति की उपासना करने पर बल दिया। इन्होंने ही भक्ति में गोपी तत्त्व का समावेश किया। बल्लभाचार्य ने बालकृष्ण ने बालकृष्ण एवं उनकी प्रिया राधा की उपासना का उपदेश दिया और 'सखा भाव' की भक्ति का भी सूत्रपात किया। इसी समय चैतन्य महाप्रभु ने राधा को परकीया मानते हुए, युगल राधाकृष्ण की उपासना का प्रचार बंगाल सहित सम्पूर्ण उत्तर भारत में किया। राधा विषयक मान्यता और गहरी होती गयी और 'राधाबल्लभ सम्प्रदाय' में राधा प्रमुख और कृष्ण गौण हो गये। हरिदासी सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की निकुँज लीला और सुरत लीला के अनेक चित्र उतारे गये। फलत: कृष्ण भक्ति अतिशय शृंगारिकता के कारण 18-19 शती में पतनोन्मुख हो गयी।

रामभक्ति

पिछले पृष्ठों में हम पढ़ चुके हैं कि वैष्णव भक्ति का उदय ई. पू. पाँचवीं शती में हो चुका था। इसी भक्ति ने मध्य काल में आकर सम्पूर्ण उत्तरी भारत में एक विराट जन आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। चौदहवीं शती तक आते-आते भक्ति दो प्रमुख धाराओं में विभक्त हो गयी—सगुण भक्ति तथा निर्गुण भक्ति। दोनों की ही दो-दो शाखाएँ हुईं, यथा—सगुण भक्ति की—कृष्ण भक्ति शाखा और राम भक्ति शाखा। निर्गुण की—ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा।

निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा के सभी कवि संत कहलाये जिनमें कबीरदास, रैदास, नानक प्रमुख संत कवि हुए। निर्गुण भक्ति के ज्ञानाश्रयी शाखा का विकास सिद्धों तथा नाथों की परम्परा में हुआ तथा इस पर महाराष्ट्र के 'बारकरी सम्प्रदाय' का पर्याप्त प्रभाव था। कन्नड़ संत 'पुंडलीक' ने (1209 ई.) में पंढरपुर में 'बारकरी सम्प्रदाय' की स्थापना की। इनके उपास्य विट्ठल थे। विट्ठल विष्णु की उस प्रतिमा का नाम है जो सिर पर शिवलिंग धारण किये हुए है। यही विट्ठल निर्गुण ब्रह्म के भी प्रतीक हैं। दूसरे सम्प्रदाय में ज्ञानेश्वर (1275-1296) तथा नामदेव (1270-1350) हुए। बारकरी सम्प्रदाय का प्रभाव उत्तर भारत में नाथ योगियों पर पड़ा जो कबीर

द्वारा निर्गुण भक्ति में विकसित हुआ। कबीर का मत संत मत कहलाया। निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा के अधिकांश कवि सूफी संत थे। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल रामभक्ति शाखा का अध्ययन करना है। भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक मर्यादा पुरुषोत्तम राम के शक्ति, शील और सौन्दर्य से मण्डित व्यक्तित्व ने भारतीय जनमानस को सदैव आकृष्ट किया है। विद्वानों का मत है कि राम उत्तर वैदिक काल के दिव्य ऐतिहासिक पुरुष थे। सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण में राम का एक अलौकिक महापुरुष के रूप में वर्णन मिलता है, किन्तु महाभारत में उनका रूप अवतारी है। राम कथा का प्रभाव भारतीय जन-जीवन पर बहुत गहरा और व्यापक था। एक ओर वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति जैसे कवियों ने राम की महान गाथा गायी तो दूसरी ओर बौद्ध और जैन कवियों ने अपनी-अपनी धार्मिक मान्यता के अनुसार रामचरित का गुणगान किया। बौद्ध जातक कथाओं में रामकथा का वर्णन 'दर्शन जातक', 'अनार्मक जातक' तथा 'चीनी त्रिपिटक' में मिलता है। जैन कवि विम सूरि ने 'पम चरियम्', भुवन तुँग सूरि ने 'सिया चरियम्' तथा 'रामचरियम्', रविषेण ने 'पद्मचरित' नामक ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में जैन मान्यताओं के अनुसार रामकथा का वर्णन किया गया है।

आठवीं-नवीं शती में स्वयंभू रचित 'पउम चरिउ' तथा दशवीं शती में पुष्पदन्त रचित 'महापुराण' में रामचरित का वर्णन मिलता है। भारतीय अवतारवाद तथा वैष्णव भक्ति भावना के उदय के साथ-साथ मर्यादा पुरुषोत्तम राम 'परं ब्रह्म' के रूप में प्रतिष्ठित हुए। राम की पूजा अवतारी रूप में होने के बहुत पूर्व उनकी उपासना 'वीर पूजा' के रूप में प्रारम्भ हो चुकी थी। वैदिक युग से लेकर पुराण युग तक जैसे-जैसे कर्म और ज्ञान मार्ग की अपेक्षा भक्ति मार्ग को प्रधानता मिलती गयी वैसे-वैसे विष्णु के अवतार के रूप में राम की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। पुराणकाल में ही राम कृष्ण के समान अवतारी माने गये। विष्णु पुराण, रामभक्ति के उद्भव और विकास में रामानुज तथा रामानन्द आदि मध्यकालीन महात्माओं ने बहुत बड़ा योगदान दिया। वायुपुराण, भागवतपुराण, कर्म पुराण में राम के अवतारी रूप का वर्णन मिलता है।

दक्षिण के आलवारों में राम भक्ति

सर्वप्रथम, वैष्णव भक्ति अपनी सम्पूर्ण चेतना के साथ दक्षिण के आलवार भक्तों में प्रस्फुटित हुई, तदुपरान्त उत्तर भारत में फैली। बारह प्रमुख आलवार भक्तों में 'शठकोप' या 'नाम्मालवार' राम की पादुका के अवतार माने जाते थे। इनकी रचना 'तिरुवायमेलि' में सर्वप्रथम रामभक्ति का वर्णन मिलता है। सातवें आलवार राजा 'कुलशेखर' भी राम के अनन्य भक्त थे। उनके द्वारा रचित पद 'प्रेरूमाल तिरुभौवि' नामक ग्रन्थ में संगृहीत है। यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य ने भी राम भक्ति को अधिकाधिक पल्लवित किया। आचार्य रामानुज तो शेष अथवा लक्ष्मण के अवतार माने जाते थे।

उत्तर भारत में रामभक्ति

उत्तर भारत में राम भक्ति का प्रवर्तन रामानुजाचार्य की 14वीं पीढ़ी में राघवानन्द तथा उनके शिष्य रामानन्द द्वारा हुआ। रामानन्द ने 'रामावत् सम्प्रदाय' की स्थापना की और राम की मर्यादापूर्ण भक्ति एवं आचरण की पवित्रता पर बल दिया। रामानन्द (1299-1410) प्रयाग में जन्मे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उन्होंने 'वैष्णव मताब्ज भास्कर' तथा 'श्री रामार्चन पद्धति' नामक ग्रन्थ लिखे। रामानन्द अपने समय के सर्वाधिक प्रगतिशील विचारक, उदारचेता भक्त और युगदृष्टा

एवं सृष्टा संत थे। इन्होंने युग बोध के अनुरूप निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का उपदेश दिया। इसीलिए उनके निर्गुण और सगुण पन्थी, उच्च और नीच जाति के सभी प्रकार के भक्त शिष्य थे। नाभादास द्वारा रचित 'भक्तमाल' के अनुसार इनके बारह शिष्य थे जिनमें दो स्त्रियाँ भी थीं—अनंतानन्द, सुरसुरानन्द, सुखानंद, नरहर्यानन्द, पीपा (राजपूत), धन्ना (जाट), कबीर (जुलाहा), सेन (नाई), रैदास (चमार), पद्मावती तथा सुरसरी।

रामानन्द ने राम सीता की भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने सर्वप्रथम रूढ़िग्रस्त भारतीय जनता को जो बाह्य आक्रमणों से त्रस्त और आन्तरिक भेद-भावों से पीड़ित थी, राम भक्ति का अमोघ शस्त्र दिया। उन्होंने मर्यादावादी रामचरित्र का ऊँचा आदर्श स्थापित कर बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये लोगों को 'रामतारक मन्त्र' देकर पुन: हिन्दू धर्म में दीक्षित करने की नयी परम्परा स्थापित की। इन्हीं की शिष्य परम्परा में लोकनायक रामभक्त तुलसीदास हुए। तुलसीदास से भी पूर्व 'विष्णुदास' तथा 'ईश्वरदास' का नाम आता है। ईश्वरदास ने भरत मिलाप और 'अंगद पैज' नामक दो ग्रन्थ लिखे। रामानन्द की परम्परा में 'गलता' में गद्दी स्थापित की और राजस्थान में रामभक्ति का प्रचार किया।

तुलसीदास

रामानन्द के बाद तुलसी ने रामभक्ति का सर्वाधिक प्रचार किया। इनका 'रामचरितमानस' उत्तरी भारत में जन-जन का कंठहार बन गया। तुलसी के राम 'परब्रह्म' हैं और विष्णु के अवतार हैं। इन्होंने दास्यभक्ति को सर्वश्रेष्ठ बतलाया। तुलसी के समकालीन निर्गुणभक्त संसार की असारता पर बल दे रहे थे और कृष्ण भक्त कवि अपने युगल आराध्य राधा-कृष्ण की विलास लीलाओं का वर्णन करने में निमग्न थे। ऐसे समय में तुलसी ने भारतीय जनता में व्याप्त नैराश्य एवं संत्रास को दूर करने के लिए मर्यादावादी पुरुषोत्तम राम का आदर्श स्थापित किया जो अपार शक्ति-शील और सौन्दर्य के गुणों से युक्त थे। तुलसी ने एक सच्चे लोकनायक के रूप में विरोधी साधनाओं, दार्शनिक मतों एवं विविध आचार-विचारों में समन्वय स्थापित किया। वस्तुत: "उनका सम्पूर्ण काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है।" तुलसी तक आते-आते रामभक्ति भी दो धाराओं में बँट गयी—एक आदर्शवादी रामभक्ति धारा जिसके प्रमुख कवि नाभादास, तुलसीदास, केशवदास, मुनिलाल, सेनापति, हृदयराम, प्राणचन्द चौहान तथा बलदास हुए और दूसरी रसिक सम्प्रदाय की मधुर धारा।

"रसिक सम्प्रदाय" में राम की मधुरोपासना का प्रारम्भ हुआ। इसमें राम-सीता के ऐश्वर्य वैभव और लीला, विलास क्रीड़ाओं का वर्णन कृष्णभक्ति की मधुरा धारा के समान किया गया। इसके प्रमुख कवि अग्रदास (अग्रवली), नाभादास (नाभाअली-16वीं शती), बालकृष्ण (बाल अली), रामप्रिया शरण, रामचरणदास, रीवाँ नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह (1789) तथा महाराज रघुराजसिंह (1833) आदि हुए। बीसवीं शती में रामभक्ति का एक नया रूप उभरकर आया जिसमें राम ब्रह्म की अपेक्षा महामानव या जन-नेता अधिक है। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में राम को एक महामानव और विश्व बन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत दिखाया गया है। डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'साकेत संत' में भरत के त्याग की महिमा का वर्णन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राम कथा उत्तर भारत में संस्कृत, जैन और बौद्ध काव्यों में अपने-अपने आदर्शों और मान्यताओं के अनुरूप लिखी गयी। पुराण काल में राम विष्णु के अवतारी माने जाने लगे और रामभक्ति का सूत्रपात हुआ। दक्षिण के आलवार भक्तों ने रामभक्ति का खूब प्रचार किया। आचार्य रामानुज ने उसे शास्त्रीय रूप देकर उत्तर भारत में प्रचारित किया। उत्तर भारत में रामभक्ति की दो धाराएँ हो गयीं—एक मर्यादावादी धारा और दूसरी रसिक सम्प्रदाय की 'मधुर धारा'। मर्यादावादी धारा में तुलसी जैसे महान् कवि हुए। इस धारा के कवियों ने युग सत्य और युगबोध को अपनाकर निराश और पीड़ित हिन्दू जनता को राम का एक ऐसा आदर्श दिया जो उन्हें राजनीतिक मोर्चे की शर्मनाक हार के बाद भी सांस्कृतिक मोर्चे पर विजय दिलाने में अमोघ अस्त्र सिद्ध हुआ। मर्यादावाद और लोकमंगल की भावना से परिपूर्ण यह भक्तिधारा अठारहवीं शती तक निर्बाध रूप से चलती रही किन्तु कृष्णभक्ति से प्रभावित होकर रामभक्ति में भी मधुराभावना का उदय हुआ जिसमें राम के लोकरक्षक रूप की अपेक्षा लोकरंजक रूप के चित्र अधिक उतारे गये। यह धारा उन्नीसवीं शती तक चलती रही। बीसवीं शती में रामभक्ति के क्षेत्र में एक नया मोड़ आया। मैथिलीशरण गुप्त तथा बलदेवप्रसाद ने क्रमश: राम और भारत को महामानव एवं त्यागी पुरुष के रूप में चित्रित किया।

भक्तिमार्ग का योगदान

विश्व की प्रत्येक विचारधारा और प्रत्येक आन्दोलन अपने युग की उपज होता है। भक्ति मध्यकाल की माँग थी और वह अपने युग के प्रश्नों का सही उत्तर थी। हिन्दू समाज अपनी भीतरी विकृतियों और विषमताओं से रुग्ण था। उसी समय पश्चिम से तलवार के बल पर अपने धर्म का प्रचार करने आये आक्रामक विजेताओं ने देश को जी भर कर लूटा और अत्याचार किये। अत: यहाँ के धार्मिक नेताओं के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे धर्म को नैतिकता, लोकमंगल और साम्प्रदायिक सद्भाव की आधारशिला पर स्थापित करें। भक्ति आन्दोलन ने भारतीय समाज में ईश्वर विश्वास और आस्था के माध्यम से आत्म-विश्वास और निर्भयता का संचार किया। साथ ही सत्कर्म, सदाचार, धार्मिक सहिष्णुता, समानता एवं मानवतावाद के मूल्यों की प्रतिष्ठा की जिसके द्वारा सुदृढ़ सामाजिक संगठन की नींव डाली गयी।

सगुणोपासक भक्तों के राम अपनी सम्पूर्ण शक्ति दुष्टों, राक्षसों और अत्याचारियों के विनाश करने में लगाते हैं और लोक रक्षा एवं लोकमंगल का विश्वास जनता में पैदा करते हैं। निगुणियाँ संतों के राम घट-घट में व्याप्त हैं इसलिए सभी सत्कार्यों के मूल स्रोत हैं। इन संतों ने ऐकेश्वरवाद की स्थापना से हिन्दू-मुस्लिम सौमनस्य स्थापित किया तथा ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाकर समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। भक्ति आन्दोलन चार धाराओं में विभक्त हुआ—रामभक्ति शाखा, कृष्ण भक्ति शाखा, निर्गुण संत शाखा एवं निर्गुण प्रेममार्गी शाखा। ये चारों शाखाएँ अपने-अपने ढंग से युगीन समस्याओं का समाधान खोज रही थीं किन्तु सभी का धरातल एक था—समानता, धार्मिक सहिष्णुता और मानव मात्र से प्रेम।

1. सभी भक्त और संत कवियों ने नाम महिमा और गुरु महिमा का वर्णन किया तथा ईश साधना को सर्वसुलभ बनाया। उन्होंने निर्गुण और सगुण का भेद मिटाकर समन्वय की भावना का विकास किया। सगुणोपासक भी तात्विक दृष्टि से अपने इष्ट को निर्गुण मानते थे। इस प्रकार सभी भक्तों और संतों ने निर्गुण की असीमता में महानता, दिव्यता, मानवता और सर्वव्यापकता की खोज की।

2. सभी भक्तों व संतों ने ईश प्रेम को माध्यम बनाकर मानवीय प्रेम का प्रसार किया।

कृष्ण भक्त और सूफी संतों ने तो अपने काव्य का विषय ही 'प्रेमाभक्ति' बनाया। तुलसी और कबीर ने भी प्रेमाभक्ति को अपनाया।

3. सभी भक्तों ने बाह्याडम्बर, सामाजिक भेदभाव और सामाजिक अन्याय का विरोध कर सरल और आडम्बरहीन भक्ति मार्ग पर चलने का उपदेश दिया।

4. सभी भक्तों और संतों ने शारीरिक मन और आचरण की पवित्रता पर बल दिया जिससे सामाजिक, सांस्कृतिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त हुआ।

5. सभी भक्तों और संतों ने मानव की नैतिकता और सद्वृत्ति का विकास कर भक्त को भगवान के समकक्ष बना दिया।

इस प्रकार, युग के यथार्थ बोध की चुनौती को स्वीकार करते हुए भक्तों ने इस युग में सांस्कृतिक उत्थान की उन ऊँचाईयों का स्पर्श किया जिन्हें 'गुप्तयुग' के बाद कोई प्राप्त न कर सका था। भगवान की महिमा के माध्यम से भक्तों ने मानव महिमा एवं मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा की।

8

हिन्दू धर्म की नई प्रवृत्तियाँ

उन्नीसवीं सदी में भारत में राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में एक नई जागृति आने लगी जिसने अनेक सुधारवादी आन्दोलनों को जन्म दिया। हिन्दू धर्म की ये नई प्रवृत्तियाँ ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी और रामकृष्ण मिशन आदि के रूप में उदित हुई।

ब्रह्म-समाज—राजा राममोहन राय भारत में सामाजिक एवं धार्मिक चेतना के अग्रदूत थे। वे अपने समय के बहुत बड़े विद्वान माने जाते थे। धार्मिक सुधारों के लिए उन्होंने सन् 1828 में कलकत्ता में ब्रह्म-समाज की स्थापना की।

ब्रह्म-समाज की प्रमुख मान्यताएँ हैं—ईश्वर अजन्मा है। उस एक ब्रह्म या निराकार ईश्वर की उपासना किसी मन्दिर या मूर्ति आदि की स्थापना के बिना करनी चाहिए। सभी धर्मों तथा धर्मग्रन्थों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिए। आत्मा अजर-अमर है। सभी व्यक्ति ईश्वर के सम्मुख समान हैं। पवित्रता के साथ मानव की भलाई करना ही सच्ची ईश्वर पूजा है। सभी मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं। सती प्रथा, जाति बंधन, मूर्ति-पूजा, बाल-विवाह आदि प्रथाएँ अधार्मिक घोषित की गयीं। देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र ने ब्रह्म समाज की प्रगति में उल्लेखनीय योगदान दिया।

प्रार्थना-समाज—प्रार्थना-समाज की स्थापना केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से पूना में सन् 1867 में हुई। इसकी सफलता का श्रेय जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे को है। प्रार्थना-समाज ने अनेक समाज सुधार के कार्य किये। महाराष्ट्र में 'परमहंस सभा' की स्थापना हुई। अछूतोद्धार हेतु 'दलितोद्धार मिशन' स्थापित किया गया। अनेक अनाथालय, विधवा-आश्रम एवं कन्या पाठशालाएँ खोली गयीं।

प्रार्थना-समाज के प्रमुख उद्देश्यों में धर्म सम्बन्धी आडम्बरों, जाति-पाँति के बन्धनों एवं बहुविवाह का विरोध प्रमुख था। इसमें समुद्र-यात्रा, विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा एवं अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित दिया गया तथा अछूतोद्धार एवं शुद्धि को धर्म-मान्य घोषित किया गया। इसमें समाज सुधार के कार्यों में मिशनरी भाव को महत्त्व दिया गया।

आर्य समाज—आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं। उन्होंने संन्यास ग्रहण करके समग्र भारत में भ्रमण किया और अन्त में मथुरा में स्वामी विरजानन्द से दीक्षा ली तथा वेदों का पुनरुद्धार किया। उन्होंने चारों वेदों के भाष्य लिखकर वेदों का ज्ञान जन-सुलभ बनाया। 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना करके दयानन्द जी ने वेद धर्म और भारतीय संस्कृति के

प्रसार पर बल दिया। उन्होंने स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह तथा अछूतोद्धार का प्रबल समर्थन किया सन् 1875 ई. में बम्बई में गिरगाँव मुहल्ले में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की।

आर्य समाज के सिद्धान्त

1. सभी सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करने योग्य है।
3. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।
4. सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने को सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।
6. संसार का उपकार करना अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना, इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।
7. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य बरतना चाहिए।
8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए अपितु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
10. सब मनुष्यों को सामाजिक एवं सर्व हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक को अपने हितकारी नियम में स्वतन्त्र रहना चाहिए।

थियोसोफिकल सोसाइटी

'थियोसॉफी' शब्द दो ग्रीक शब्दों 'थयोस' और 'सोफिया' से मिलकर बना है जिसका अर्थ है ईश्वर और ज्ञान। इस आन्दोलन का लक्ष्य पाश्चात्य बौद्धिक विकास के माध्यम से हिन्दू-आध्यात्मिक ज्ञान की खोज करना था। थियोसोफिकल सोसायटी अर्थात् ब्रह्म विद्या सभा की स्थापना 7 दिसम्बर, 1875 में न्यूयार्क, अमरीका में एक रूसी महिला मदाम एच. पी. ब्लावट्स्की और इंग्लैण्ड के एक भूतपूर्व सैनिक अधिकारी एस. एस. आल्कोट ने की। वे सन् 1879 में भारत आये और सन् 1886 में 'थियोसोफिकल सोसायटी ऑफ इण्डिया' की स्थापना मद्रास के 'अडयार' नामक स्थान में हुई। भारत में ब्रह्म विद्या सभा की प्रमुख कार्यकर्ता एक आयरिश महिला श्रीमती एनी बीसेन्ट थीं। वे अच्छी व्याख्यानदात्री थीं। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें उनका अंग्रेजी में गीता का अनुवाद बहुत प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने अंग्रेजी में 'न्यू इण्डिया' नामक पत्र भी निकाला तथा बनारस में सैण्ट्रल हाईस्कूल की स्थापना की जो बाद में हिन्दू विश्वविद्यालय बन गया।

ब्रह्म विद्या सभा के उद्देश्य

1. आर्य दर्शन और धर्म का अध्ययन तथा प्रचार करना।

2. उपनिषद् समर्थित ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, जीव सम्बन्धी तत्त्वों का समर्थन।
3. सभी हिन्दू मतों को मान्यता।
4. कर्म, पुनर्जन्म एवं मोक्ष में विश्वास।
5. सभी धर्मों का आदर।
6. आध्यात्मिकता से जुड़ना।
7. नस्ल, जाति, धर्म आदि के भेदभाव को भुलाकर विश्व-बन्धुत्व में आस्था रखना तथा मानवता के अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व भाव का आकर्षण बिन्दु स्थापित करना।
8. ईश्वर ही हमारा उद्गम है। वह अनन्त तथा सर्वव्यापी है।
9. धर्मों तथा दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देना।

रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण परमहंस का जन्म सन् 1836 में हुगली जिले के कामारपूकुर गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका बचपन का नाम गदाधर था। वे रानी रासमणि के दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में पुजारी थे। परमशक्ति से मिलने की उनके हृदय की चिर उत्कंठा, उन्हें यह आतुर पुकार करने के लिए प्रेरित करती—"माँ ! एक और दिन भी तो व्यर्थ हुआ, तुम्हारा दर्शन तो नहीं मिला।" परिणामस्वरूप मृण्मयी देवी ने चिन्मयी रूप में दर्शन दिया।

रामकृष्ण परमहंश ने माँ काली के तो अन्तर्मुखी दर्शन किए ही थे, साथ ही उन्होंने ईसाई और इस्लाम धर्मों के अनुसार भी आराधना करके परम सत्य का साक्षात्कार किया था। उन्होंने कहा—"मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सब धर्म मनुष्य के कदमों को उसी ईश्वर की ओर निर्देशित करते हैं केवल अलग-अलग हैं—मैं जिधर देखता हूँ, उधर पाता हूँ कि हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, वैष्णव इत्यारि सब लोग धर्म के नाम पर झगड़ रहे हैं। वे कभी इस बात पर विचार नहीं करते कि जिसे कृष्ण कहते हैं, वही शिव भी कहलाता है और उसी को आदि शक्ति ईसा या अल्लाह का नाम भी दिया जाता है। वस्तुत: एक ही राम है जिसके हजार नाम हैं।"

रामकृष्ण परमहंस के जीवन सिद्धान्तों एवं आदर्शों के अनुरूप जनजीवन को प्रेरित करने के उद्देश्य से रामकृष्ण मिशन की स्थापना स्वामी विवेकानन्द द्वारा सन् 1897 में कलकत्ता के 'बैलूर मठ' में की गई। दूसरा आश्रम अल्मोड़ा के मायावती में बनाया गया। अपनी अद्भुत प्रतिभा और वक्तृता से संसार भर में उन्होंने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का डंका बजा दिया। मार्गरेट नोबल (भगिनी निवेदिता) और सेवियार दम्पत्ति उनके साथ भारत आए और अनेक स्थलों पर रामकृष्ण आश्रम खोले गए।

रामकृष्ण मिशन के उद्देश्य

1. श्री रामकृष्ण परमहंस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों और कार्यों का प्रचार करना।
2. मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और पारमार्थिक उन्नति के लिए कार्य करना।
3. सभी धर्मों का समान आदर करना एवं उनमें आस्था रखना।
4. विश्व कल्याण पर बल।
5. हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा आवश्यक है, क्योंकि यह सभी धर्मों का जन्मदाता है।

6. मूर्ति पूजा धर्ममान्य है क्योंकि इसका अपना अलग महत्त्व है।
7. मानव समाज की सेवा मनुष्य का प्रमुख धर्म है।
8. प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन निष्ठापूर्वक करना चाहिए।
9. ईश्वर की उपासना का सभी को अधिकार है।
10. पश्चिमी सभ्यता पतन की ओर ले जाने वाली है अत: इस भोगवाद से बचना चाहिए। सादा जीवन उच्च विचार ही श्रेयस्कर हैं।
11. मानव प्रेम, पवित्रता, नम्रता, साधुता, नि:स्वार्थता और ईश्वर भक्ति आदि सद्‌गुणों को अपनाना चाहिए।
12. प्रत्येक व्यक्ति को धन और स्त्री से यथासंभव दूर रहना चाहिए।

महात्मा गाँधी

अन्य समाज सुधारकों में महात्मा गाँधी भी एक समाज सुधारक, विचारक, राजनीतिज्ञ और आचार्य शास्त्री थे। अपनी अलौकिक प्रतिभा से उन्होंने धर्म की नई व्याख्या की। वे कहते हैं, "मैं समझा दूँ कि धर्म से मेरा क्या मतलब है ? मेरा मतलब हिन्दू धर्म से नहीं है, जिसे मैं बेशक दूसरे सब धर्मों से अधिक पसन्द करता हूँ। मेरा मतलब उस मूल धर्म से है जो हिन्दू धर्म को लाँघ गया है, जो मनुष्य के स्वभाव तक का परिवर्तन कर देता हे, जो भीतरी सत्य के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध जोड़ता है और जो हमें निरन्तर अधिक शुद्ध और पवित्र करता रहता है। वह मानव स्वभाव का शाश्वत सत्य है और अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है और आत्मा को उस समय तक बिल्कुल बेचैन रखता है जब तक उसे अपने स्वरूप का पता नहीं लग जाता, सिरजनहार का ज्ञान नहीं हो जाता तथा सृष्टा के और अपने बीच का सम्बन्ध समझ में नहीं आ जाता। मेरे धर्म की भौगोलिक सीमाएँ नहीं हैं।" धर्म की इसी व्यापक दृष्टि के कारण वे सत्य और अहिंसा के व्यावहारिक प्रयोग द्वारा देश को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त करा सके। यही नहीं, उन्होंने ग्रामोद्योग, स्वदेशी वस्तुओं से प्रेम, गौ-सेवा, मद्य-निषेध, महिला-उत्थान तथा अछूतोद्धार के क्षेत्र में अपने अथक प्रयत्नों द्वारा एक क्रान्ति ही उपस्थित कर दी। राजनीति में आध्यात्मिकता और नैतिकता को स्थान देकर उसके स्तर को ऊपर उठाने में गाँधी जी अग्रगण्य हैं। गाँधी जी आत्मा के अस्तित्व का सम्पूर्ण सामाजिक कार्य करने में मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा और ईश्वर में कोई भेद नहीं है।

अरविन्द घोष

समकालीन भारतीय चिन्तकों में श्री अरविन्द एक मेधावी चिन्तक हैं। आत्मा के साक्षात्कार के लिए उन्होंने योग को अनिवार्य माना है। उनका योग, पूर्ण योग, संश्लेषणात्मक अथवा अति मानस योग कहलाता है। इसमें मानव मात्र अथवा प्रकृति मात्र के रूपान्तरण का लक्ष्य निहित है। भौतिक वस्तु से लेकर चित्त शक्ति तक सभी स्थूल, सूक्ष्म स्तर एक ही ब्रह्म के विभिन्न पक्ष हैं और विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। अत: ब्रह्म की पूर्ण अभिव्यक्ति में सभी स्तरों का समान रूप से विकास अपेक्षित है। इसमें व्यष्टि और समष्टि के किसी अंग की उपेक्षा नहीं हो सकती। सच्चा धर्म आध्यात्मिक धर्म है जो बुद्धि से परे मानव की सौन्दर्यात्मक, नैतिक और व्यावहारिक सत्ता से परे आत्मा को उच्चतर नियमों से शासित करने के लिए आत्मा में रहता है।

मानव धर्म का योगदान—हिन्दू धर्म की नई प्रवृत्तियों में रूढ़ियों, बाह्य आडम्बरों और विगलित मान्यताओं के मोह को छोड़ने का स्पष्ट उद्‌बोधन है। इस उद्‌बोधन ने तत्कालीन समाज में एक क्रान्ति ही उपस्थित कर दी। प्रार्थना-समाज ने हिन्दू धर्म की गरिमा को समझाने की प्रेरणा प्रदान की, ब्रह्म-समाज ने कुरीतियों और बाह्य आडम्बरों को छुड़वाकर निराकार ब्रह्म की उपासना के लिए प्रेरित किया, आर्य समाज ने हिन्दू के महिमामय स्वरूप को उद्‌घाटित करने का हर सम्भव प्रयास किया, थियोसोफिकल सोसायटी ने हिन्दू धर्म को ही विश्व के विविध धर्मों का सार माना और प्रत्येक धर्म में निहित मानव कल्याणकारी तत्वों को साकार ग्रहण करने की बुद्धि का विकास किया और धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। रामकृष्ण मिशन में तो मानव धर्म ही साकार हो गया। इसकी परिधि में सम्पूर्ण विश्व ही सिकुड़कर बैठ गया। गाँधी जी का धर्म भी मानव धर्म ही था। उनके धर्म की भौगोलिक सीमाएँ ही नहीं थीं। अरविन्द का धर्म दर्शन भी मानव धर्म दर्शन है। यह मानव मात्र में आध्यात्मिक चेतना को जगाता है और समस्त विश्व में ब्रह्म की व्याप्ति तथा जीवात्मा के ऊर्ध्वगमन की साधना द्वारा सम्भव मानता है। इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ मानव धर्म के यथार्थ स्वरूप को उभारने का प्रयत्न करती रहीं हैं और मानव मात्र को धर्म से जोड़ने में सचेष्ट रही हैं।

विवेकानन्द

इनका धर्म दर्शन ही नव्य वेदान्त मानवतावाद कहलाता है। वे कहते हैं—

"वेदान्त दर्शन के मत से मनुष्य ही जगत में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और यह कर्मभूमि पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है क्योंकि एकमात्र यहीं पर उसके पूर्णत्व प्राप्त करने की सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक सम्भावना है। देवदूत या देवता आदि को भी पूर्ण होने के लिए मनुष्य जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। यह मानव जीवन एक महान केन्द्र, अदभुत स्थित और अद्‌भुत अवसर है।"

विवेकानन्द के मत में मानव ही सबसे बड़ा देवता है। वे कहते हैं—यदि संसार के नर-नारियों का दस लक्षांश भी बिल्कुल चुप रहकर एक क्षण के लिए कहे, "तुम सभी ईश्वर हो, मानवों, हे पशुओं, हे सब प्रकार के जीवित प्राणियों, तुम सभी एक जीवित ईश्वर के प्रकाश हो तो आधे घण्टे के अन्दर ही सारे जगत का परिवर्तन हो जाय। उस समय चारों ओर घृणा के बीज न बोकर, ईर्ष्या और असत्य चिन्तन का प्रवाह न फैलाकर सभी देशों के लोग सोचेंगे कि सभी 'वह' हैं। इस प्रकार सारे जगत का परिवर्तन हो जायेगा। यही समाज का सबसे बड़ा लाभ है। मनुष्य के लिए यही महान लाभ है। स्वार्थोन्मूलन ही धर्म है। आत्म-प्रतिष्ठापन नहीं, आत्मा-त्याग ही सर्वोच्च लोक का धर्म है। अपने लिए कुछ भी मत चाहो, सब दूसरों के लिए करो। भगवत् प्राप्ति ही धर्म है। हरेक धर्म का लक्ष्य तथा साध्य यही है।

विवेकानन्द समाज के लिए धर्म अनिवार्य मानते हैं। वे कहते हैं—

"समाज के पीछे एकमात्र पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण मान्यता, बाँधने वाली सम्पूर्ण शक्ति एक और केवल एक है अर्थात् धर्म, आध्यात्मिकता, परलोकवाद है। वास्तव में समाज को आर्थिक कल्याण और भौतिक सुख अवश्य ही प्रदान करने चाहिए परन्तु अन्तिम लक्ष्य जैसा कि अन्यत्र कहीं हैं—आत्मा का विकास और पूर्णता है—चाहे उसके कुछ भी अर्थ हों।"

9

जैन धर्म

जैन और बौद्ध धर्म भारत की प्राचीन काल की श्रमण संस्कृति की देन है। सिन्धु नदी के किनारे के उत्खननों में जो साधु, मुनि, योगी लोगों की-सी प्रतिमाएँ और चित्र मिले हैं, वे यह स्पष्ट करते हैं कि उस समय देश में कठोर तपस्या व साधना करने वाले और यम-नियमों का पालन करने वाले महात्मा थे और वे सम्भवत: बेघर साधु भी थे। उसी धर्म ने उन्नति करते-करते जैन और बौद्ध धर्मों का स्वरूप स्वीकृत किया।

जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन कहा जाता है। इसके प्रवर्तक आचार्य तीर्थंकर कहलाते हैं। ये संसार रूपी समुद्र को मनुष्यों को पार कराने के लिए धर्म रूपी घाट का पुल बनाने वाले हैं। पहले तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इनको आदिनाथ भी कहते हैं। इनके बाद तेईस तीर्थंकर और हुए हैं जिनमें से वर्धमान आखिरी थे। इनके बारे में हिन्दू और जैन पुराण और धर्म ग्रन्थों में भी कथाएँ मिलती हैं। ऋषभदेव वैष्णव सम्प्रदाय में विष्णु के अवतार और शैव सम्प्रदाय में शिव के अवतार माने जाते हैं। वे नाभि के पुत्र और हिमवर्ष के महान राजा थे। वे स्वयं राज्य को अपने सुपुत्र भरत को सौंपकर श्रमण बन गये। जैन सम्प्रदाय के अनुसार इसी भरत के नाम पर हमारे देश का नाम भारत रखा गया। ऋषभदेव से प्रचलित धर्म को जैन धर्म या निर्ग्रन्थ 'सम्प्रदाय' कहते हैं। 'जिन' शब्द का अर्थ है—जिसने इन्द्रियों को जीता हो। निर्ग्रन्थ का अर्थ है जिसकी ग्रन्थि अर्थात् बंधन टूटे हुए हों।

नेमिनाथ जो बाईसवें तीर्थंकर हैं, श्रीकृष्ण महाराज के समकालीन माने जाते हैं। ये यदुवंश के राजा समुद्रविजय के पुत्र और श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। इनका विवाह राजा अग्रसेन की कन्या राजमती से निश्चित हुआ था। बारात रवानी हुई मार्ग में इन्होंने उन पशुओं की करुण चीत्कार सुनी जो बरातियों के माँस-भक्षण के लिए एकत्रित किये गये थे। यह जानकर उन्हें असह्य मनोव्यथा हुई। पशुओं को मुक्त कराके विवाह से मुख मोड़कर वे श्रमण बन गये।

तेईसवें तीर्थंकर **पार्श्वनाथ** सुप्रसिद्ध हैं। वे नागवंश के अश्वसेन और वामा के पुत्र और काशी के राजा थे। इनका काल महावीर के समय से दो सौ पचास वर्ष पूर्व था। पार्श्वनाथ तीस वर्ष की आयु में ही घर छोड़कर वन में गये। उन्होंने तिरासी दिन तक घोर तपस्या करके उत्तम ज्ञान को प्राप्त किया। पहले ऋषि मुनियों ने आचरण में जो अहिंसा थी, उसे उन्होंने व्यावहारिक स्वरूप दे दिया। इनका उपदेश 'चातुर्याम धर्म' कहलाता है। इनके बताए हुए चार व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), और अपरिग्रह (सांसारिक वस्तुओं से प्रेम न

करना) महावीर के काल तक इस धर्म का प्रचार काफी हो गया था जिसका सुधार करते हुए उन्होंने जैन धर्म को परिनिष्ठित स्वरूप दे दिया।

वर्धमान महावीर के सम्बन्ध में भी हमको थोड़ी ही जानकारी प्राप्त होती है। जैन धर्म ग्रन्थों के प्रमाणों से पता चलता है कि उनका जन्म ई. पू. 599 में हुआ था। दिगम्बर जैन इनकी जन्मतिथि ई. पू. 569 मानते हैं। महावीर नाया वंश अथवा ज्ञात्रिक वंश के राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। इनकी माता त्रिशला थी जो वैशाली के राजा चेटक की बहिन थी। वर्धमान के जन्म से पूर्व त्रिशला ने स्वप्न में चन्द्रमा, सिंह, माला आदि वस्तुएँ देखी थीं। दैवज्ञ लोगों का कहना था कि वह एक महान आचार्य को जन्म देने वाली होगी। ये स्वप्न जैन मन्दिरों में चित्रित और साहित्य में वर्णित उपलब्ध होते हैं। ये मानते हैं कि जिन माताओं के पुत्र जैन मुनि बनने वाले होंगे, वे उन स्वप्नों को देखेंगी। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के शुभ दिन महावीर का जन्म हुआ।

श्वेताम्बर जैनों के अनुसार वर्धमान का विवाह बसन्तपुर के समन्तवीर की दुहिता यशोदा से सम्पन्न हुआ था। दस वर्ष बाद इनकी एक पुत्री भी पैदा हुई जिसका नाम प्रियदर्शना था। कई ग्रन्थों में उनके भाई और बहिन के भी नाम मिलते हैं। महावीर के बचपन के बारे में भी कई कहानियाँ सुनी जाती हैं। खेलते हुए उन्होंने एक पागल हाथी की सूँड़ को शान्त स्वभाव से ही पकड़कर वशीभूत किया था। एक बार एक देवता को जो इनको लेकर आकाश में उड़ने लगा था, उसके केशों को पकड़कर खींचकर नीचे जमीन पर ले आये। इन्द्र से प्राप्त पोशाक को भी उन्होंने सोमदत्त नाम के ब्राह्मण को दान में दे दिया इत्यादि-इत्यादि। अपने माता-पिता की मृत्यु के दो साल बाद ये अपने बन्धुओं से विदा लेकर श्रमण बन गये। लेकिन दिगम्बर जैनों के अनुसार उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया था।

वर्धमान ने बारह वर्ष तक घोर तपस्या की। उत्तम ज्ञान, दर्शन और आचरण के साथ यम-नियमों का पालन करते हुए ध्यान में मग्न रहे। तेरहवें वर्ष में वैशाख महीने के शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन ऋजुपालिका नदी के तट पर बसे जम्भिकाग्राम नामक नगर के बाहर एक पुराने मन्दिर से थोड़ी दूर पर श्यामक नाम के गृहस्थ के खेत में एक साल वृक्ष के नीचे पद्मासन में बैठे हुए समाधि में केवल ज्ञान को प्राप्त किया। अब वे 'जिन', अर्हन्त कहलाने लगे। वे अपने धर्म का प्रचार तीस वर्ष तक करते रहे। महावीर ने अपना पहला उपदेश मगध राजधानी (राजगृह) में विपुला अचल के ऊपर देना शुरू किया। इन्होंने पार्श्वनाथ के 'चातुर्याम धर्म' को सुधारते हुए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह में ब्रह्मचर्य को और जोड़ दिया। इनके उपदेशों का सार है कि हमारे सुख हमारे कर्म पर निर्भर हैं। जीव चेतन रूप है। इसका जड़ पदार्थों से मेल अविद्या की वजह से होता है। इससे उसमें कषाय, काम, क्रोध आदि उत्पन्न होते हैं। उनसे कार्मिक अणु उसमें घुस करके बंधन पैदा करते हैं। उसको रोकने के लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि और सम्यक् चरित्र आवश्यक है। जीव तपस्या से परिशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

गौतम इन्द्रभूति नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान ब्राह्मण महावीर के प्रथम शिष्य बने। राजगृह के राजा श्रेणिक बिम्बिसार और उनके पुत्र अभय कुमार, मगध के राजा अजातशत्रु और उज्जयिनी के राजा चन्द्र प्रद्योत जैन धर्म के अनुयायी बन गये। वर्धमान को मौसी चन्दना अपने धर्म की साध्वियों की नायिका बन गई। गौतम बुद्ध महावीर के समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थों में

महावीर के बारे में कई विशेष प्रसंग प्रस्तुत किये गये हैं। 'मज्झिम निकाय' में बुद्ध भगवान के जीवनकाल में महावीर के निर्माण का भी जिक्र मिलता है। वर्धमान महावीर का परिनिर्वाण पटना के पास पावापुरी में बहत्तर वर्ष की आयु में हुआ था।

महावीर के अनुयायियों के संघ में श्रमण और गृहस्थ स्त्री और पुरुष थे। श्रमण साधु और साध्वी और गृहस्थ श्रावक तथा श्राविका कहलाते थे। महावीर के उपदेशों को गणधर और आचार्य विद्वान इकट्ठे करते रहे। महावीर के बाद इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मस्वामी उनका प्रचार करते रहे। सुधर्मस्वामी के शिष्य जम्बुस्वामी थे जो जैनों में अन्तिम सर्वज्ञ माने जाते हैं। ई. पू. चौथी सदी में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल के दो आचार्य प्रसिद्ध हैं—भद्रबाहु स्वामी और स्थूलभद्र। भद्रबाहु स्वामी चौदह वर्ष पूर्व आगमों को को जानते थे और स्थूलभद्र ने दस ही पूर्वों का संरक्षण किया। इसके बाद अनेक व्याख्याएँ और उपव्याख्याएँ सम्पादित की गईं। उनका दर्शन पक्ष भी विस्तृत किया गया। बाद के आचार्यों में उमास्वामी, कुन्द-कुन्दाचार्य, हेमचन्द्राचार्य जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य हुए।

महावीर के काल में ही उनके संघ में जामालि और गौशाल नामक शिष्यों द्वारा दो विभाग किये गये। जामालि स्वयं महावीर के दामाद थे। ई. पू. चौथी सदी में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में एक भयंकर अकाल पड़ा। उस समय जैन धर्म के प्रमुख आचार्य अपने शिष्यों के साथ दक्षिण भारत में चले गये। मगध में स्थूलभद्र बाकी शिषयों का नायक बन गया। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में स्थूलभद्र ने आगमों की रक्षा की व्यवस्था की, जो बाद में भद्रबाहु और उनक दूसरे शिष्यों को पसन्द नहीं आयी। स्थूलभद्र के शिष्य साधु नंगे रहने के अलावा श्वेत वस्त्र पहनने लगे। इन कारणों से बाद में ये दो भिन्न सम्प्रदाय बन गये जो दिगम्बर और श्वेताम्बर कहे जाने लगे। इनके आपस में भेद भी बहुत कम हैं। दिगम्बरों के अनुसार साधु लोग नंगे रहेंगे और दूसरे कठोर नियमों का पालन करेंगे। जो केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेंगे, उन्हें खाने-पीने की भी जरूरत नहीं होगी। स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए दुबारा पुरुष जन्म लेना पड़ेगा। वर्धमान महावीर का विवाह तक नहीं हुआ। ईसा की पाँचवीं और अठारहवीं सदियों के बीच दिगम्बरों के द्रविड़ संघ आदि आठ विभाग बन गये। पन्द्रहवीं सदी में दिगम्बरों का स्थानकवासी संघ बन गया जिसके साधु स्थानक नाम की कुटियों में ठहरने लगे। अठारहवीं सदी में इससे अलग 'तेरा पंथ' प्रचलित किया गया जिसके साधु उन स्थानकों में भी नहीं ठहरते थे। ये दोनों मूर्ति पूजा को नहीं मानते हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य तुलसी 'तेरा पंथ' के ही प्रचारक हैं।

जैन धर्म का प्रचार भारत में कई प्रान्तों में हुआ। मगध के मौर्य वंश के राजा नन्द और कलिंग के खारवेल जैन थे। उस समय 'जिन' की मूर्तियों की पूजा प्रचलित थी। भद्रबाहु की वजह से जैन धर्म दक्षिण के कर्नाटक और द्रविड़ देश में फैल गया। बाद में राष्ट्रकूट राजाओं के काल में उन्नति की। गुजरात में भी इसका प्रचार हुआ और महावीर के निर्वाण में एक हजार वर्ष के बाद गुजरात के बलभी में एक सुसंगति हुई जिसमें जैन आगमों को परिनिष्ठित रूप दिया गया। जैन धर्म के प्रचार का माध्यम अर्धमागधी प्राकृत भाषाएँ थीं। संस्कृत, तमिल, कन्नड़ और गुजराती भाषाओं में भी कई ग्रंथ लिखे गये। जैन धर्म भारत से बाहर नहीं गया।

जैन धर्म का स्वरूप जानने के लिए हमको नौ तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए—जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनका ज्ञान मिलने पर हम मोक्ष

की प्राप्ति कर सकेंगे। इसके लिए हमको महावीर जैसे सिद्ध पुरुषों की शरण में जाना चाहिए। वे दोष रहित और अनन्त विज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य के धनी हैं। महावीर जैसे श्रेष्ठ सिद्ध पुरुषों को पहचानना, उन पर श्रद्धा रखना और उनके उपदेश पाकर उनके अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए।

जीव चेतन रूप हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—मुक्त और संसारी। संसारी जीव भी दो प्रकार के हैं—स्थावर और त्रस। स्थावर वे हैं जो हिल नहीं सकते, जैसे—पृथ्वी, जल आदि। त्रस जीव वे हैं जो इधर-उधर चल सकते हैं। जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय हैं। पंचेन्द्रिय वे हैं जो स्पर्श, रसना, घ्राण, दर्शन और श्रवण पाँचों इन्द्रियों से युक्त हैं। पाँचों इन्द्रियों के साथ-साथ जिनका विवेकशील मन भी है वे संज्ञी जीव कहलाते हैं। ये सब लोकाकाश में रहते हैं। इनके परे शून्य रूपी अलोकाकाश है।

जीवों का ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। इन्द्रियों के द्वारा जो पाया जाता है, वह मति ज्ञान है। शब्द प्रमाण से पाया हुआ ज्ञान श्रुत ज्ञान है। तिरोहित वस्तुओं के ज्ञान और त्रैकालिक ज्ञान अवधि-ज्ञान है। दूसरों के मन के भाव को जान लेना और उसको प्रभावित करना मनः पर्याय ज्ञान है। सर्वज्ञता केवल ज्ञान है जिसकी प्राप्ति से ही हमको कैवल्य गति प्राप्त होती है।

जीव वस्तुतः शुद्ध और अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य जैसे गुणों से युक्त होते हैं। लेकिन ये गुण अनादि कर्म की वजह से ढके हुए हैं। ये कर्म जड़ पदार्थ के अणुओं के रूप में होते हैं। इससे मुक्ति पाना ही हमारा ध्येय है।

अजीव अचेतन अर्थात् जड़ है। यह भौतिक प्रकृति के रूप में दिखाई देता है। यह पाँच प्रकार का होता है—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।

पुण्य और पाप दोनों को आस्रव में ही गिनते हैं। पुण्य कर्म वे हैं जिनसे जीव स्वर्ग, धन, सम्पत्ति और सुख को पाता है। पाप इसके विपरीत हैं जिनसे जीव नरक और दुःख को प्राप्त करता है। शरीर वाक् और मन से जो कर्म किये जाते हैं, उनसे जीव का जड़ पदार्थों के कर्म रूपी परमाणुओं से मेल होता है जिसको योग कहते हैं। उससे ये कर्म परमाणु जीव के चैतन्य में घुसकर मिल जाते हैं और इसी को आस्रव-अन्तर की ओर बहाव कहते हैं। इससे जीव को बंधन पैदा होता है। बंधन के कारण मिथ्या ज्ञान, मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय भी होते हैं। इसी वजह से हमको तरह-तरह के दुःख भागने पड़ते हैं। आस्रव को रोकना ही संवर है। यह संवर निरोध भी कहा जाता है। कर्मों के प्रवेश को रोकने और उनकी प्रगति में विघ्न डालने के सत्तावन उपाय बतलाये गये हैं। वे जैनों के आचार शास्त्र के प्रमुख अंग हैं।

इकट्ठे हुए कर्मों को नष्ट करना निर्जरा कहलाता है। जैसे तालाब के अन्दर जाने वाले पानी को रोकना जिससे उसमें पानी का बढ़ना रुक जाता है, सवर है। तालाब में जो पानी जमा है, उसे सुखाने के लिए उसके ऊपर धूप का पड़ना निर्जरा है। निर्जरा तभी हो सकता है जब जीवन में संयम और सादगी अर्थात् तप हो। उपवास जैसी घोर तपस्याएँ ही इकट्ठे हुए कर्मों को जला देती हैं। ध्यान और समाधि से भी कर्म नष्ट हो जाते हैं। जब आत्मा के सारे बन्धन समाप्त हो जाते हैं, तब वह मुक्ति को प्राप्त करता है। मोक्ष की दशा पूर्ण शान्ति और पूर्ण ज्ञान की है। मोक्ष को ही कैवल्य या निर्वाण कहते हैं। कर्मों के नाश होने से जीव को ऊर्ध्व गति प्राप्त होती है जिससे वह लोक और अलोक को पार करके परम आनन्द पद को प्राप्त कर लेता है।

जैन धर्म का आचार शास्त्र संवर और निर्जरा इन दोनों तत्त्वों पर निर्भर है। संवर अर्थात् कर्मों की धारा को आत्मा में प्रवेश करने से रोकने के लिए जो उपाय हैं, वे पाँच प्रकार के होते हैं—(1) शरीर, वाक् और मन का संयम जो गुप्त कहा जाता है। (2) समिति या सावधानता—जो चलने में, बोलने में, खाने-पीने में, जगत के व्यवहारों में और मलमूत्र के त्याग में सावधानी है। (3) दस मूलभूत धर्म, जिनका पालन करना आवश्यक है— क्षमा, विनय, निश्चलता, सत्य, संयम, जीवन में सादगी, त्याग, अनासक्ति, शुचिता और तप हैं। (4) ध्यान—जिसके विषय बारह प्रकार के होते हैं। सब वस्तुओं की क्षणिक सत्ता, कर्मों का फल-भोग और मृत्यु आदि के बारे में आत्मा की मजबूरी, संसार जो चक्रवत परिभ्रमण कर रहा है, अकेलापन अर्थात् मैं ही कर्मों का कर्ता और जिम्मेदार हूँ, हर एक आत्मा, एक-दूसरे से अलग है, अशुद्धि, आस्रव, संवर, मुक्ति, दुनिया का स्वरूप, धर्म के मार्ग की दुर्गमता और धर्म मार्ग का स्वरूप। (5) बाइस प्रकार के कष्ट; जिनमें भूख-प्यास, मान-अपमान, रोग, घमण्ड, अज्ञान आदि हैं। पाँच प्रकार का अच्छा आचरण—सुख-दुःख में समभाव, शुद्धि आदि हैं। तपस्या से निर्जरा होती है। इसके अलावा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य नाम के पाँच व्रतों का पालन। साधु लोग इनका पूर्ण रूप से पालन करते हैं, तभी वे महाव्रत कहलाते हैं। श्रावक गृहस्थ इनका जहाँ तक सम्भव हो, वहाँ तक पालन करते हैं और ये अणुव्रत कहलाते हैं।

जैन धर्म में न केवल नियम, तप और ध्यान पर अपितु अनुभव पर भी ज़ोर दिया जाता है। श्रद्धा, वीर्य, अप्रमाद, विद्या और प्रज्ञा ये पाँच ध्यान साधना को सुलभ कर देते हैं।ध्यान दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और अप्रशस्त। आर्त और रौद्र ध्यान अप्रशस्त हैं। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं। धर्म ध्यान में ज्ञान, अपाय, विपाक और संस्थान के ध्यान अन्तर्निहित हैं। शुक्ल ध्यान साक्षात् मोक्ष कारक हैं। यह चार प्रकार का है। पहला और दूसरा मानसिक होता है। ये दोनों जैन धर्म के उपदेशों की भावना और उनके वितर्क और विचार पर निर्भर है। तीसरा और चौथा ध्यान करते समय मन निष्क्रिय हो जाता है और पूर्ण समाधि में रहता है। जैन धर्म में आध्यात्मिक उन्नति की दशाओं को गुण स्थान कहते हैं। ये चौदह प्रकार के हैं। तेरहवीं संयोग केवली अवस्था है। यही जीवन मुक्ति है। चौदहवीं अयोग केवली अवस्था है। तेरहवीं और चौदहवीं अवस्था ही शुक्ल ध्यान की तीसरी और चौथी दशा होती है। अयोग केवली अवस्था में थोड़ी दूर रहकर विदेह मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

जैन धर्म में अहिंसा का स्थान महत्त्वपूर्ण हैं। हिंसा का अर्थ है असावधानी से किसी जीव को पीड़ित करना। यह दो प्रकार की है। भाव हिंसा अर्थात् मानसिक हिंसा और द्रव्य हिंसा-मन से भिन्न अंग द्वारा हिंसा। सभी प्रकार की द्रव्य हिंसा से पहले भाव हिंसा की जाती है। हमारी असावधानी के कारण आसक्ति, द्वेष और कषाय हैं। कषाय चार प्रकार का होता है—मान (गर्व), माया (प्रवंचना), छल (कपट), क्रोध और लोभ। हिंसा की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं—स्वयं की जाने वाली हिंसा, दूसरे को प्रेरित करके कराई जाने वाली हिंसा और अनुमित देकर कराई जाने वाली हिंसा। इन सब हिंसाओं से दूर रहने के लिए वे कठोर नियमों को अपनाते हैं, परन्तु किसी जीवधारी की सहायता करने के लिए निषिद्ध काम भी करने की अनुमति दी जा सकती है।

मानव के विचार अनेक रूप वाले होते हैं। ये परस्पर विरोधी भी होते हैं। इनमें अविरोधी को देखना तब सम्भव है जब हम सत्य को अनेक धर्मात्मक होना मानते हैं। जैसे एक ही हाथी

को सारे अंधे तरह-तरह से वर्णन करते हैं, उसी प्रकार सत्य के भी अनेक रूप हैं। इसी दर्शन को 'अनेकान्तवाद' या 'स्याद्वाद' कहते हैं। जो विभिन्न दृष्टिकोण से संगत होने वाले किन्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करता है। स्याद् का अर्थ है कदाचित् अर्थात् एक दृष्टिकोण से।

जैन धर्म परमात्मा या ईश्वर को नहीं मानता। किन्तु आत्माओं के बहुत्व में विश्वास करता है। आत्मा को बाहर शरीर और इन्द्रियों से बहिर्मुख होने की अवस्था ही बहिरात्मा कही जाती है। जब वह अन्तर्मुख हो जाता है, तब वह अन्तरात्मा कहा जाता है। जब वह पूर्णज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब वह परमात्मा कहलाता है। जैनधर्म में परमात्मा का अर्थ यही है। जैन धर्म में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि और सम्यक् आचार त्रिरत्न कहलाते हैं।

जैन धर्म के अनुयायी चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन महावीर जयन्ती मनाते हैं। ये दीपावली को भी मानते हैं। स्वास्तिक इनका पवित्र चिह्न माना जाता है।

10

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म भी जैन धर्म की तरह भारत की प्राचीन श्रमण परम्परा में उत्पन्न हो गया था। बुद्ध भगवान का कहना है कि वे प्राचीन पुराण मार्ग का ही प्रचार कर रहे हैं। इनसे पहले के बुद्ध सम्भवत: कनक मुनि ई. पू. 900 में और काश्यप ई. पू. 800 में हुए। वे ऐतिहासिक पुरुष थे। बौद्ध धर्म का आविर्भाव ई. पू. सातवीं सदी में गौतम बुद्ध के द्वारा ही हुआ था।

भगवान बुद्ध की जन्म तिथि के बारे में दो मत हैं। उत्तर भारत के सम्प्रदाय के अनुसार उनका जीवन काल ई. पू. 566-486 था और दक्षिण के पालि सम्प्रदाय के अनुसार ई. पू. 624-544 था। उनके पिता नेपाल के समीप के कपिलवस्तु नाम के शाक्य गणराज्य के राजा शुद्धोधन थे। ये गौतम वंश के थे। माता महामाया थी। गौतम बुद्ध का जन्म लुम्बिनी वन में वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था। इनका नाम सिद्धार्थ रखा गया। जन्म से सातवें दिन ही इनकी माता की मृत्यु हो गई। प्रजापति गौतमी ने इनका पालन-पोषण किया जो इनकी सौतेली माता थी। राजा शुद्धोधन ने उनको अत्यन्त प्रेम से राजवैभव में पाला-पोसा। ये इनकी दृष्टि में किसी बुरी चीज को नहीं आने देते थे। कहा जाता है कि असित नाम के एक दैवज्ञ ने शुद्धोधन को बताया था कि ये बड़े श्रमण और लोककल्याणकारी महापुरुष होंगे। सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा से सम्पन्न हुआ। उनका पुत्र राहुल था। एक बार रथ में राजप्रसाद से बाहर जाते हुए उन्होंने एक वृद्ध मनुष्य को, एक रोगग्रस्त पुरुष को, एक मृत देह को और एक संन्यासी को देखा। इन्हें पता चला कि हर एक मनुष्य को बुढ़ापे से, रोगों से और मृत्यु से अवश्य दु:ख भोगना पड़ता है। यह अनिवार्य है। बुद्धिमान लोग संन्यासी होकर इन दु:खों की निवृत्ति के लिए तपस्या करते हैं। सिद्धार्थ के मन पर इन घटनाओं का गहरा असर पड़ा। अपने उन्तीस वर्ष की आयु में वे घरबार छोड़कर दु:खों की निवृत्ति का उपाय ढूँढ़ने के लिए श्रमण बन गये। उस समय के सुप्रसिद्ध श्रमण आचार्य उद्रक राम पुत्र और आराड कालाम के साथ विचार चर्चा की। उन्होंने छ: वर्ष तक कठोर तपस्या की। अपने शरीर को व्रतों से कृश देखकर उन्होंने एक वैश्य की पुत्री सुजाता का दिया हुआ भोजन स्वीकार किया। वह वैशाख पूर्णिमा का दिन था। उसी रात को गया के पास उरूवेल नामक वन में निरंजना नदी के किनारे एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे समाधि में बैठ उन्होंने 'बोधि' ज्ञान को प्राप्त किया। उसी स्थान को बुद्ध गया कहते हैं। वे समाधि की अवस्था में सात दिन तक लीन रहे। त्रपुस और मल्लिक नाम के दो व्यापारी इनके पहले उपासक शिष्य बने। वाराणसी के समीप ऋषिपत्तन या सारनाथ में उन्होंने अपना पहला उपदेश अपने पिछले पाँच साथियों को

देकर 'धर्म चक्र प्रवर्तन' अर्थात् धर्म प्रचार आरम्भ किया। वाराणसी में एक बौद्ध संघ स्थापित किया। काश्यप गोत्र के तीन ब्राह्मण भाई ऋषियों ने बौद्ध धर्म में प्रवेश किया। बिम्बसार जैसे राजा भी इनके अनुयायी बन गये। बाद में उन्होंने कपिलवस्तु पहुँचकर अपने बन्धुओं को भी अपने धर्म में शामिल किया। श्रावस्ती के बड़े सेठ अनाथपिण्डद ने एक उपयुक्त 'बिहार' और एक सुन्दर बाग भिक्षु संघ को अर्पित कर दिया जहाँ बुद्ध भगवान प्राय: रहते थे। उनका 'महापरिनिर्वाण' अस्सी वर्ष की आयु में कुशीनगर में हुआ। उनके अवशेष अलग-अलग स्थानों पर स्तूपों में रखे गये।

महापरिनिर्वाण के बाद ही उनके पाँच सौ शिष्यों ने राजगृह में इकट्ठे होकर उनके उपदेशों को दो पिटकों में संगृहीत किया जो 'विनय पिटक' और 'सूत्र पिटक' कहलाते हैं। इसी को प्रथम बौद्ध संगीति कहते हैं। इसके बाद में 'अभिधम्म पिटक' जोड़ दिया गया। दूसरी संगीति इससे एक सौ वर्ष के बाद वैशाली में सम्पन्न हुई। यहाँ 'थेरवादी' और 'महासांधिक' नाम से दो सम्प्रदाय हो गये। तीसरी संगीति अशोक के काल में पाटलिपुत्र में हुई जिसके अध्यक्ष मोग्गलिपुत्र तिस्स थे। इन्होंने बौद्ध संघ में जो भेद आ गये थे, उनको मिटाने की कोशिश की। अशोक के पुत्र महेन्द्र और संघमित्रा ने श्रीलंका में जाकर वहाँ बौद्ध धर्म को प्रतिष्ठित किया। श्रीलंका अब भी हीनयान सम्प्रदाय का महान केन्द्र है। चीनी विद्वानों के अनुसार कनिष्क के काल में भी एक संगीति हुई जहाँ सर्वास्तिवाद के दो सम्प्रदाय वैभाषिक और सौत्रांतिक प्रचलित हो गये।

सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार किया। उसने श्रीलंका में अपने पुत्र और पुत्री को भेजा जो अपने साथ बोध वृक्ष की शाखा भी ले गये जिसे अनुराधपुर में लगाया। वे त्रिपिटक (विनय पिटक, सूत्र पिटक और अभिधर्म पिटक) को भी ले गये। अशोक ने मिस्र, मेसीडोनिया, सीरिया, लीबिया और आलबेनिया तक प्रचारकों को भेजा। इससे उन देशों के धर्म जीवन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा। उसने अपने शिलालेखों में एक-दूसरे के धर्मों का अध्ययन कर उन्हें समझने, परस्पर विश्वासों का आदर करने और धर्म के आचरण पर जोर दिया।

दूसरी शताब्दी में महायान सूत्रों की रचना हुई जो बौद्ध संस्कृत और एक प्रकार की पाली भाषा में थे। नागार्जुन ने इनकी व्याख्या की और माध्यमिक महायान मत की स्थापना की। इस सम्प्रदाय में और भी महान पंडित थे जिन्होंने इस धर्म के कई दार्शनिक ग्रन्थ लिखे। बौद्ध धर्म के पुराने अठारह सम्प्रदायों को वे हीनयान कहने ले और अपने धर्म को महायान। हीनयानी बुद्ध के दो स्वरूप मानते थे—धर्मकाय—केवल निर्गुणनिराकार स्वरूप बुद्ध और निर्माण काय मनुष्य शरीरधारी बुद्ध। महायान में तीसरे सम्भोग काय को मानते हैं; जो गौरवशाली बुद्ध हैं और ये असंख्य दिव्य बुद्ध को भी मानते हैं। हीनयान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अर्हन्त बन सकता है। महायान के अनुसार हर एक मनुष्य बोधिसत्व बन सकता है, जो आगे चकर बुद्ध बनने वाला है। महायान में भिक्षुओं और गृहस्थों के आदर्शों में भेद नहीं है। जातक ग्रन्थों में बुद्ध भगवान के सिद्धार्थ गौतम के रूप में प्रकट होने से पहले अनेक जन्म वर्णित हैं जिनमें वे बोधिसत्व कहलाते हैं। इस सिद्धान्त का वैष्णव धर्म के अवतारवाद पर ज्यादा असर पड़ गया।

बाद में तान्त्रिक बौद्ध सम्प्रदाय भी प्रचलित हो गये जो तन्त्र-मन्त्र और योग का भी प्रयोग करते थे। इनमें मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान और काल चक्रयान हैं। ये हठयोग में निपुण और सिद्ध कहलाते थे। इनके सिद्धान्त गुप्त और रहस्यात्मक हैं।

बौद्ध धर्म बाहरवीं सदी तक भारत और विदेशों में भी फैला हुआ था। लेकिन यह कई कारणों से भारत में लुप्त हो गया। एक कारण है कि हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों से मेल-जोल और बुद्ध को भी विष्णु का एक अवतार मान लेने से यह हिन्दू धर्म में अन्तर्निहित हो गया। दूसरे, भारत पर विदेशियों के हमले से सारे बौद्ध विद्यालय और संघ मिट गये। स्वतन्त्रता के बाद बौद्ध धर्म का पुन: विकास आरम्भ हुआ। इस तरह बौद्ध धर्म के अनुयायी देशों; जैसे—श्रीलंका, बर्मा, कम्बोडिया, चीन, जापान और कोरिया के स्वतन्त्र होने के बाद बौद्ध धर्म का अन्तर्राष्ट्रीय विकास नये ढंग से शुरू हुआ। बर्मा में नब्बे फीसदी लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं। श्रीलंका अभी हीनयान का मुख्य केन्द्र है। थाईलैण्ड में बौद्ध धर्म राजधर्म है। कम्बोडिया, भूटान, सिक्किम में भी बौद्ध धर्म राजधर्म है। लद्दाख एवं त्रिपुरा में भी बौद्ध धर्म के बहुत अनुयायी हैं। चीन, जापान एवं तिब्बत में यह नया रूप लिये दिखाई पड़ता है। चीन और जापान में महायान का तथा तिब्बत में वज्रयान का प्रभाव अधिक है।

बौद्ध धर्म के अनुयायी तीन रत्न—बुद्ध, धर्म और संघ को मानते हैं। इनको त्रिशरण भी कहते हैं। बुद्ध गुरु हैं। वे सत्य के प्रकाशक और निर्वाण का पंथ दिखाने वाले हैं। उनके नित्य बौद्ध स्वरूप को अकाल बुद्ध कहते हैं और निर्वाण के लिए उनकी शरण लेते हैं। बुद्ध के उपदेशों को धर्म कहते हैं। इसमें आचार-शास्त्र के नियम हैं। श्रद्धालु बौद्धों का समाज संघ कहलाता है। उत्पन्न हुई वस्तुओं के तीन लक्षण हैं—अनित्यता, दु:खमयता और असारता। मनुष्य का व्यक्तित्व पाँच स्कन्धों से बना हुआ है—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञाम। इनके मिलने से शरीर और मन उत्पन्न होता है जिसमें आत्मा प्रतीत होती है। असल में आत्मा स्कन्ध या इनका समवाय नहीं है। इसलिए आत्मा एक सार तत्त्व नहीं है। निर्वाण की अवस्था वह है जिसमें सब दु:खों का अन्त और इच्छाओं और अविद्या से मुक्ति हो जाती है। सब प्राणियों में जो विज्ञान या चेतन तत्त्व हैं, वह एक जन्म से दूसरे जन्म में ले जाता है। निर्वाण प्राप्त मनुष्य पुन: जन्म-मरण के चक्र से बाहर निकलकर ऐसी दशा को प्राप्त कर लेता है जिसका वर्णन असम्भव है।

बुद्ध भगवान के उपदेश को मध्यम मार्ग कहते हैं। उन्होंने अतिभोग और अति कठोर तप के मार्गों को छोड़कर बीच के मार्ग को बतलाया है। यह मध्यम मार्ग अष्टांग मार्ग कहलाता है। इसके आठ अंग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव (धन्धा), सम्यक् व्यायाम (यत्न), सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि (ध्यान)। ये आठ संक्षेप में प्रज्ञा (1 एवं 2), शील (3, 4, 5) और समाधि (6, 7, 8) कहलाते हैं।

चार आर्य सत्यों को जान लेना ही सम्यक् दृष्टि है। चार आर्य सत्य हैं—दु:ख, समुदय, निरोध और मार्ग। जन्म-जरा-मरण सब दु:ख हैं। राग से उत्पन्न पाँचों स्कन्ध और सारा जीवन दु:खमय है। संसार दु:खमय है। यह प्रथम आर्य सत्य है। इस दु:ख का कारा है तृष्णा, विषय तृष्णा, संसार के विषयों को भोगने की तृष्णा। यह तीन प्रकार की है—काम तृष्णा, भव तृष्णा और विभव तृष्णा। विषयों की कामना काम तृष्णा है। जन्म लेने की इच्छा भव तृष्णा है और संसार को नाशवान समझकर चार्वाकों की तरह ऋण लेकर घी पीने की इच्छा विभव तृष्णा है। तीसरा आर्य सत्य है—दु:ख निरोध। वह तृष्णा जो दु:ख का कारण है, उसे नाश करना है। तृष्णा के नाश करने से इसी जीवन में ऐसी दशा उत्पन्न होती है जिसे निर्वाण कहते हैं। वह अखण्ड शान्ति की अवस्था है। जीवनमुक्ति है। दु:ख निरोध का मार्ग ही—अष्टांग मार्ग है। सम्यक् दृष्टि

में कुशल और अकुशल कर्मों का ज्ञान भी शामिल है जो इनके आचार मार्ग का मूल है। मध्यम निकाय के अनुसार इनका विवरण यह है—

	अकुशल	कुशल
काय कर्म	प्राणातिपाल (हिंसा)	अहिंसा
	अदत्तादान (चोरी)	अचौर्य
	मिथ्याचार (व्यभिचार)	अव्यभिचार
वाचिक कर्म	मृषावचन (झूठ)	अमृषावचन
	पिशुन वचन (चुगली)	अपिशुनवचन
	परुष वचन (कटु वचन)	अकटुवचन
	संप्रलाप (बकवाद)	असंप्रलाप
मानस कर्म	अभिध्या (लोभ)	अलोभ
	व्यापाद (प्रतिहिंसा)	अप्रतिहिंसा
	मिथ्या दृष्टि (झूठी धारणा)	अमिथ्या दृष्टि

व्यक्ति लोभ, मोह और दोषों की निवृत्ति से कुशल कर्म कर सकता है।

सम्यक् दृष्टि या ज्ञान से सम्यक् निश्चय या संकल्प उत्पन्न हो जाता है। कामना दु:खों का मूल है। इसलिए मनुष्य को यह दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि वह विषय की कामना न करेगा।

बौद्ध धर्म में भी कर्म सिद्धान्त को महत्त्व दिया गया है। मनुष्य की सद्गति या दुर्गति अपने कर्मों से ही हो जाती है इसलिए उसको पाँच कर्मों का अनुष्ठान अनिवार्य है, जो पंचशील कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और मादक द्रव्यों का असेवन। ये मिलकर दस शील बन गये। सम्यक् आजीव या ठीक जीविका द्वारा शरीर का पोषण करना चाहिए। शस्त्रों का व्यापार, प्राणी का व्यापार, माँस का व्यापार, विष का व्यापार, मद्य का व्यापार वर्जनीय है। रिश्वत, वंचना, कृतघ्नता आदि से भी जीविका निषिद्ध है। सम्यक् व्यापार में ठीक प्रयत्न या उद्योग शामिल हैं। बुरी भावनाओं को रोकने और अच्छी भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न करना चाहिए। काय, वेदना, चित्त और धर्म के निज स्वरूप को जानना और स्मृति में रखना चाहिए। इससे सम्यक् समाधि उत्पन्न हो जाती है। ध्यान से तीन प्रकार की प्रज्ञा उत्पन्न होती है—श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी। श्रुतमयी आप्त प्रमाणों से उत्पन्न प्रज्ञा है, चिन्तामयी युक्ति से उत्पन्न हुई प्रज्ञा है और भावनामयी समाधिजन्य प्रज्ञा (निश्चय) है, जिससे वह समाधिजन्य निश्चय प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। ऋषियों को ही नहीं, दिव्य ज्ञान को भी प्राप्त कर लेता है और अर्हन्त बन जाता है।

महायान में बोधिसत्व का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। जिस सत्व या जीव की चित्तवृत्ति बोधि पर केन्द्रित है, वह बोधिसत्व है। वह सब प्राणियों के परम हित के लिए एक बुद्ध बन जाय। इसके साथ ही बोधिचित्त को यानी बुद्ध बनने के लिए विचार को विकसित करता है। बोधिचित्त के दो चिन्ह हैं—करुणा और प्रज्ञा। निर्वाण प्राप्त करने के लिए इन दोनों की आवश्यकता है। प्रज्ञा या वस्तुओं के स्वरूप ज्ञान से करुणा उत्पन्न होती है। जीवन के दु:ख और अनित्यता मनुष्य के मन में जीवों के प्रति गहरी सहानुभूति पैदा करते हैं। इनसे दु:ख को दूर करने की इच्छा होती

है। यह संकल्प करता है कि मैं सबके दु:खों को अपने सिर पर लूँ। मुझे सब प्राणियों को अवश्य मुक्त करना है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बोधिसत्व अपने अन्दर दस गुणों या पारमिताओं को पूर्ण रूप से विकसित करता है। (1) दान पारमिता (उदारता की परिपूर्णता), (2) शील पारमिता (सदाचार की परिपूर्णता), (3) शान्ति पारमिता (सहनशीलता की परिपूर्णता), (4) ध्यान पारमिता (मन की एकाग्रता की परिपूर्णता), (5) वीर्य पारमिता (पराक्रम की परिपूर्णता), (6) प्रज्ञा पारमिता (परम ज्ञान की परिपूर्णता), (7) उपाय पारमिता (साधनों की, कार्य-कुशलता की परिपूर्णता), (8) प्रणिधि पारमिता (दृष्टि निश्चय की परिपूर्णता), (9) बल पारमिता (बल की परिपूर्णता) और (10) ज्ञान पारमिता (ज्ञान की परिपूर्णता)।

निर्वाण को परम विशुद्धि, परम शान्ति भी कहते हैं। निर्वाण परम सुख की अवस्था है। यह अनुत्तर, अचिंत्य, अवाच्य और अतर्क्य है। यह विमुक्ति स्वरूप है। यह उपनिषदों का नेति-नेति जैसा है।

बौद्ध धर्म आत्मा की नित्यता को नहीं मानता है फिर भी इसका आचार धर्म, ध्यान, समाधि के नियम मानव को निर्माण गति प्राप्त कराने में उपयुक्त है, जो एक तरह की शान्ति अवस्था है। ये ईश्वर को भी नहीं मानते हैं। वे सच्चाई को एक तरह का अनिर्वचनीय तत्त्व मानते हैं। बाद के बौद्ध धर्मी अपने साधन की सफलता के लिए योग्य गुरु को भी महत्त्व देते हैं जो कल्याणमित्र कहलाता है।

बुद्ध भगवान का उपदेश है कि 'आत्मदीपा: आत्मशरणा: भवथ' अर्थात् अपने आप स्वयं अपनी बुद्धि को अपना दीप और शरण बनाओ। इस पर सब मनुष्यों का समान अधिकार है। इसमें मनुष्यों के बीच किसी असमानता को नहीं माना जाता है। बुद्ध भगवान का अहिंसा सिद्धान्त और उनका दूसरे प्राणियों के दु:ख को दूर करने के लिए स्वयं अनेक दु:खों को झेलना—इन बातों ने मानवता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला।

11

पारसी धर्म

महात्मा जरथुस्त्र द्वारा ईरान में प्रवर्तित धर्म को जोराष्ट्रियन या पारसी धर्म कहा जाता है। यह ईरान का प्राचीनतम धर्म है। इस्लाम के आविर्भाव से पूर्व प्राचीन ईरानी जरस्थुस्त्र के अनुयायी थे। वैदिक धर्म से समानता होने के कारण इसे इण्डो-ईरानियन काल का धर्म माना जाता है। सातवीं शताब्दी में अरबों ने ईरान को पराजित कर जरस्थुस्त्र के अनुयायियों को बलपूर्वक इस्लाम धर्मी बनाया। जोराष्ट्रियन धर्म के जो अनुयायी बच गये, उनमें से कई दसवीं शताब्दी तक जलमार्ग से भारत में आ गये और पश्चिम भारत में बस गये। आजकल लगभग एक लाख पारसी अनुयायियों में से प्राय: 70% से 80% लोग भारत में हैं, बाकी ईरान आदि देशों में। इस प्रकार अपने उद्भव स्थान आधुनिक ईरान में यह धर्म वस्तुत: समाप्तप्राय है।

भारत में आकर बसे हुए पारसी अनुयायियों में ही गीतों के रूप में गाथा नाम से जरस्थुस्त्र के उपदेश सुरक्षित हैं। वेदों की ऋचाओं के समान ये गाथाएँ कई शताब्दियों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से सुरक्षित रखी गई थीं। इन्हें पहली बार ईरान के सासानी शासन काल (ई. 224-640) में लिपिबद्ध किया गया। लिपि थी पहलवी अर्थात् मध्ययुगीन पारसी।

जरस्थुस्त्र आर्यों की ईरानी शाखा के आदि मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। इन्हें ऋग्वेद के अंगिरा, बृहस्पति आदि ऋषियों का समकालीन माना जाता है। जरस्थुस्त्र के जन्म व देहावसान की तिथियाँ ज्ञात नहीं हैं। इतिहासकारों के अनुमान से वे 1700-1500 ई. पू. के बीच सक्रिय थे। राजवंश से सम्बन्धित सूरमाओं के स्पितमा कबीले में जरस्थुस्त्र का जन्म हुआ। उनके जन्म के समय ईरान अन्धविश्वासों से ग्रसित था। ईरानियों की मान्यता है कि भगवान ने उनकी भलाई के लिए नौ देवदूत भेजे थे। जब पुन: पाप बढ़ गये, तब पृथ्वी ने गोमाता के रूप में आक्रन्दन किया और दया की याचना की फलस्वरूप जरस्थुस्त्र का जन्म हुआ।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था में जरस्थुस्त्र ने संन्यास लिया और मानव अस्तित्व के रहस्य के यथार्थ अनुभव के लिए सात वर्ष एकान्तवास में बिताये। जब दिव्य दृष्टि की लालसा ने अन्य इच्छाओं का नाश कर दिया, तब दिव्य शक्तियों में वोहू मदद उनकी ध्यानावस्था में प्रकट हुए और उनकी समाधिस्थ आत्मा को आहुरमज्द (ईश्वर) के समक्ष प्रस्तुत किया। तदनन्तर जरस्थुस्त्र ने अपनी गाथाओं अथवा मन्त्रों के माध्यम से एक नये जीवन दर्शन तथा धर्म का प्रचार किया। सबसे पहले जरस्थुस्त्र के चचेरे भाई, राजा विशतस्प (Vishtasp) की रानी व स्वयं राजा जरस्थुस्त्र के अनुयायी बने। जरस्थुस्त्र ने ईरान में अपने काल में प्रचलित दुराचारों की कड़ी

आलोचना की तथा उनका समूल विनाश करने का प्रयत्न किया। उनके आचारों में जो श्रेयोदोयक और प्रयोजनकारी था, उनको प्रोत्साहित किया।

पारसी या जरस्थुस्त्र का धर्म एकेश्वरवादी धर्म है। 'आहुरमज्द' उनका ईश्वर है। यह सृष्टि ईश्वर से उत्पन्न व उससे संचालित है। उसकी इच्छा व ज्ञान के बिना संसार में कुछ घटित नहीं होता।

दैनिक जीवन के अनुष्ठानों तथा कर्मकाण्डों से अग्नि देव उनके प्रमुख देवता हैं। अग्नि को भगवान का पुत्र माना गया है। ये अग्नि को दैवी पवित्रता का प्रतीक मानते हैं। पारसियों में सभी अग्निकुण्ड को साक्षी रखकर किये जाते हैं। यह आर्यों या हिन्दुओं के यज्ञ अथवा हवन का ही ईरानी रूप है। पारसी अपने पूजा स्थल को अगियारी अर्थात् अग्निस्थल कहते हैं। पशुबलि व गौहत्या पाप है।

अहंकार को छोड़कर स्वयं को अपने भगवान के प्रति समर्पित करना ही धर्म है। सच्चे मार्ग पर चलने के लिए मनुष्य को मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। सबसे अच्छा गुण है–'अषा' (Asha) या ऋत। यह एक शाश्वत नियम है जो पवित्रता, अनुशासन, एकरूपता और शुद्ध आचरण का सूचक है। यह मनुष्य के लिए बुराइयों से लड़ने का एक मुख्य साधन है।

जरस्थुस्त्र के अनुयायी अपने जीवन में 'अरमैती' या भक्ति पर जोर देते हैं भगवान आहुरमज्द को समर्पित करने के लिए और उनके साथ एकाकार करने के लिए अरमैती की आवश्यकता होती है। यह अषा या ऋत को भी पुष्ट करती है। अरमैत्री से ही अहुरमज्द से सायुज्य प्राप्त कर सकते हैं। इस मत में संसार को सत्य माना है तथा इसे दो प्रमुख शक्तियों के युद्ध क्षेत्र के रूप में चित्रित किया है। ये दो शक्तियाँ हैं–स्पेन्ता मैन्यू एवं आंग्र मैन्यू। स्पेन्ता मैन्यू विकास एवं प्रगति की शक्ति है और आंग्र मैन्यू विघटन और विनाश की शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ से ही इन दोनों में संघर्ष होता रहा है किन्तु अन्त में स्पेन्ता मैन्यू की ही विजय होती है।

जरस्थुस्त्र के अनुसार यह जीवन एक वरदान है। यह इन्द्रिय भोग के लिए नहीं, वरन् पुण्य प्राप्त करने के लिए एक साधन है। इस मत में संन्यास को निषिद्ध बताया गया है। संन्यास से मोक्ष को प्राप्त करना स्वार्थपरता है। संन्यासी लोग भी अपना जीवन व्यतीत करने के लिए दूसरों पर निर्भर होते हैं। मन के संन्यास पर बल दिया गया है। इस धर्म में मृतक-संस्कार-विधि संसार की सबसे अलग विधि है। मृतदेह को मौनगृह अर्थात् ऊँची मीनारों पर खुला छोड़कर माँसाहारी पक्षियों के हवाले कर दिया जाता है। बाद में अस्थिकाओं को एक कुएँ में डाल दिया जाता है। पारसी मृत्यु के बाद जीवन में विश्वास रखते हैं।

पारसियों के धर्मग्रन्थ के नाम जेन्द-अवेस्ता है। अवेस्ता ग्रन्थ की भाषा भी अवेस्ता है। जेन्द अवेस्ता में वैदिक प्रभाव कई स्थानों पर स्पष्ट दिखाई देता है। आज उपलब्ध अवेस्था साहित्य को पाँच भागों में बाँटा गया है–

1. यस्न–यस्न (संस्कृत में यज्ञ) विभिन्न अनुष्ठानों तथा संस्कारों के मन्त्रों तथा अर्चनाओं का संग्रह है। इसके 72 अध्यायों में विभिन्न गाथाएँ हैं। अवेस्ता गाथा का अर्थ है–पवित्र गीत या स्तुति।

2. विसपराद–इसमें 23 अध्याय हैं। यह आध्यात्मिक देवताओं की स्तुतियों का एक संकलित ग्रन्थ है।

3. विदेववाद–यह 22 अध्यायों का ग्रन्थ है। इसमें दृश्य एवं अदृश्य अपवित्रताओं से बचने के नियम, प्रायश्चित, दण्ड, न्याय, आरोग्य के नियम एवं भौतिक शास्त्र के विषय संकलित हैं।

4. यस्ट–अवेस्ता यस्ट का अर्थ है–पूजा प्रार्थना। प्रत्येक यस्ट एक देवता-विशेष की स्तुति है। इसमें 22 यस्टियाँ हैं।

5. खोरदा अवेस्ता–खोरदा या खुदरा अवेस्ता में अवेस्ता से चुने हुए भाग संकलित हैं। यह दैनिक प्रार्थना पुस्तक है।

अत्यन्त प्राचीन काल में एकेश्वर की सत्ता व आराधना पर बल देने वाले महात्मा जरस्थुस्त्र ने समाज की सेवा को प्रमुख माना। उन्होंने मानव को ज्ञान, कर्म तथा त्याग प्रधान पवित्र जीवन को अपनाने का सन्देश दिया। जोराष्टर के पूर्व ईरान में व्याप्त अज्ञान एवं अन्ध-विश्वास को मिटाने में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

●

12

यहूदी धर्म

यहूदी धर्म पैगम्बरों का धर्म (Religion of Prophets) कहलाता है, क्योंकि यह किसी एक विशिष्ट महान गुरु या नबी द्वारा दिया गया धर्म नहीं है वरन् इसका विकास नबियों द्वारा दिये गये उपदेशों से हुआ। ये धर्मोपदेश उनको ईश्वर दर्शन द्वारा ईश्वर के आदेशों के रूप में प्राप्त हुए अथवा उनके आध्यात्मिक अनुभवों द्वारा प्राप्त विकसित जीवन दर्शन का परिणाम थे। ये उपदेश समयानुसार मानव जीवन की आवश्यकताओं के बदलाव के साथ-साथ परिवर्तित होते रहे और अन्ततः एक जीवन दर्शन या जीवन पद्धति का रूप धारण कर गये। इसी कारण कहा गया है कि यहूदी धर्म प्रारम्भ से ही एक धर्म के रूप में ही नहीं वरन् एक जीवन-शैली के रूप में एक विशिष्ट प्रदेश के पर्यावरण में विकसित हुआ। इस प्रदेश की भाषा हिब्रू थी जो इस धर्म की अभिन्न अंग हो गई। यद्यपि यहूदी विश्व के विभिन्न भागों में बसे हैं, उनका शारीरिक गठन, वेशभूषा उसी देश की है जहाँ वे बसे हुए हैं, परन्तु धर्म से वह अपने को यहूदी जाति का ही अभिन्न अंग मानते हैं जिसकी मातृभाषा हीब्रू है, मातृभूमि इस्राइल है तथा धर्म यहूदी है।

पृष्ठभूमि

1300 से 1000 ई. पूर्व चेल्डीज के देश में 'उर' नामक नगर में 'तिरह' नाम का एक मूर्तिकार रहता था जो अपने देश के निवासियों की भाँति ही मूर्तिपूरक था। वह मिट्टी और पत्थर से गढ़कर मूर्तियाँ बनाता और बेचता था। उसके तीन पुत्र अब्राहम, नाहोर तथा हारान थे। वे दजला नदी की घाटी के चरागाहों में भेड़ चराया करते थे। कभी-कभी अपने पिता के साथ मूर्तियाँ भी बनवाते थे। सबसे बड़े पुत्र अब्राहम की समझ में नहीं आता था कि वे मूर्तियाँ जो वह स्वयं गीली मिट्टी या पत्थर से बनाता है, कैसे पूजा के योग्य हो जाती हैं। वे मूर्तियाँ जो स्वयं हिल नहीं सकतीं, बोल या देख-सुन नहीं सकतीं, उनके सामने साष्टांग प्रणाम करते हुए प्रार्थना करना क्या फल दे सकता है ? वह सोचता था कि लोमड़ी की मूर्ति जिसे उसने प्रातः गढ़ा है, शाम को कैसे पूजा की पात्र हो सकती है ? उसमें क्या पवित्रता, बल या शक्ति हो सकती है ? परन्तु इसका उत्तर उसे न मिल पाता क्योंकि मूर्ति पूजा में शंका करना या उसकी शक्ति पर आक्षेप करना उनके देश व जाति में घोर अपराध था। अतः वह अपने प्रश्न का उत्तर अपने पिता अथवा पुरोहित किसी से भी प्राप्त नहीं कर सकता था।

फादर इब्राहीम

एक दिन जब अब्राहम अकेला अपने पिता की दुकान पर रह गया तो उसने एक कुल्हाड़ी उठाकर सब मूर्तियों को तोड़ दिया। केवल एक मूर्ति छोड़ दी और उसके हाथ में एक कुल्हाड़ी

थमाकर प्रतीक्षा में बैठ गया। थोड़े समय के बाद जब उसका पिता लौटा और उसने सब मूर्तियाँ टूटी हुई देखीं तो उसने क्रोधित होकर पूछा कि उसने वे मूर्तियाँ क्यों तोड़ीं ? अब्राहम ने कुल्हाड़ी वाली मूर्ति की ओर इशारा करके कहा कि उसने वे मूर्तियाँ तोड़ दीं क्योंकि मूर्तियों में परस्पर झगड़ा हो गया था। तिरह चिल्लाया कि यह झूठ है, क्योंकि मूर्तियाँ न लड़ सकती हैं, न हिल सकती हैं। यह विनाश अब्राहम का ही काम है। इस पर अब्राहम ने पूछा कि यदि ये मूर्तियाँ कुछ नहीं कर सकतीं तो इनका महत्व अथवा महिमा क्या है ? तिरह यह प्रश्न सुनकर चौंका और बड़बड़ाया कि ये पूजा के लिए हैं। इस पर अब्राहम ने प्रत्युत्तर दिया कि आँख होते जो देख नहीं सकतीं, हाथ-पैर होते हुए उनका प्रयोग नहीं कर सकतीं, ये मूर्तियाँ बेकार हैं। इसीलिए उसने उनको तोड़ा था। उनकी पूजा नहीं होनी चाहिए। पिता के पूछने पर कि फिर लोग किसकी पूजा करें ? अब्राहम ने बताया कि "उन देवताओं की जिन्होंने चाँद और सूरज बनाये, तारे चमकाये, जो ऋतुएँ परिवर्तित करते हैं, वर्षा लाते हैं, भूमि को उपजाऊ बनाते हैं, भेड़ें बनाते हैं, उनसे बच्चे पैदा करते हैं।" ये साहसपूर्ण शब्द एक मूर्तिपूजक मूर्तिकार के पुत्र के थे जो चारों ओर फैल गये। अब अब्राहम वहाँ सुरक्षित नहीं था। अतः वह अपने परिवार, भेड़ों, सेवकों आदि को लेकर दजला और फरात नदियों की घाटियों को पार करता हुआ केनान देश में पहुँचा गया। बाइबिल के अनुसार अब्राहम को भगवान ने दर्शन देकर आदेश दिया था कि वह अपने पिता के घर से उस देश में जाय जो भगवान ने उसे दिखाया है। भगवान उसे एक महान् जाति बनाये और आशीर्वाद दिया कि उसका नाम महान् होगा जिससे वह स्वयं सबके लिए आशीर्वाद स्वरूप होगा।

हिब्रू (Hebru) जाति

केनान (पैलेस्टाइन) के लोगों ने इन्हें इब्रू (हिब्रू) कहना शुरू किया क्योंकि ये लोग नदी पार से आये थे। इनकी भाषा ही हिब्रू कहलाई। हिब्रूज उस देश में रहने वाली जातियों में (केनानाइट्स, मोबाइट्स, अमली काईट्स तथा अमोराइट्स) सबसे भिन्न थे, क्योंकि ये मूर्तिपूजा नहीं करते थे, जबकि अन्य सब जातियाँ मूर्तिपूजक थीं।

इस्राइल या इस्रालाइट्स

अब्राहम का एक पुत्र आइजक था। उसका पुत्र जैकब हुआ जो इस्राइल कहलाता था। अतः उसकी सन्तान भी इस्राइल अथवा इस्रालाइट्स कहलाई। इस जैकब के 12 पुत्र हुए जिनके बहुत-से पौत्र-प्रपौत्र हुए। इस प्रकार इनकी जनसंख्या बढ़ती गई और यह एक विशाल एवं शक्तिशाली जाति बन गई। चरवाहे होने के कारण ये लोग चरागाहों की तलाश में घूमते और शक्तिशाली होने के कारण अच्छे चरागाहों पर अपना आधिपत्य जमा लेते थे।

हीब्रूज की मिस्र में गुलामी

एक बार केनान में भारी अकाल पड़ा। हीब्रूज ने भी अन्य जातियों की भाँति मिस्र में जाना तय किया जहाँ सम्पन्नता अधिक थी। बाइबिल के अनुसार अब्राहम को स्वप्न हुआ कि उसकी सन्तान 400 साल तक मिस्र में गुलाम रहेगी और तत्पश्चात् एक नबी उन्हें मुक्त कराकर पुनः वरद् भूमि में लायेगा। मिस्र पहुँचकर उन्हें गोशेन प्रान्त में जो नील नदी के निकट था, बस जाने दिया गया। बहुत समय तक हिब्रूज इसी प्रान्त में प्रसन्नतापूर्वक रहे और उनकी संख्या बढ़ती गयी परन्तु ये मिस्री लोगों से अलग ही रहे। उनके मन्दिरों, पूजा पद्धति, धर्म आदि से भी अप्रभावित रहे।

मिस्री लोग अन्य जातियों से भी अधिक मूर्तियों की पूजा करते थे। उनके मन्दिर, घर, महल सब छोटी-बड़ी मूर्तियों से भरे पड़े थे। वे बैल, कुत्ते, बिल्ली, मगरमच्छ, मछली, चिड़िया, गुब्रैला आदि सभी की मूर्ति बनाकर पूजा करते थे। वे इन हीब्रूज से घृणा करते थे और इनसे डरते भी थे क्योंकि ये उनकी मूर्तियों की पूजा नहीं करते थे। ये संगठित भी थे और उनसे अलग रहते थे। जब हीब्रूज की जनसंख्या बहुत बढ़ गयी तो मिस्री लोगों को भय हो गया कि कहीं ये लोग उनकी मूर्तियों का विनाश न कर दें। अत: राजा फेरों ने अपने पुजारियों, विद्वानों तथा जादूगरों की सभा बुलाई। विद्वानों ने हिब्रूज को गुलाम बनाने की सलाह दी क्योंकि गुलाम स्वतन्त्र न होने से अपने स्वामी की भाँति ही सोचता और कार्य करता है। फेरो ने ऐसा ही किया और परिणाम भी वही हुआ। अब हीब्रूज मिस्री देवताओं और मूर्तियों की पूजा करने लगे, परन्तु सामाजिक रूप से वे अभी भी मिस्री लोगों से अलग ही रहते थे। समय बीतने पर फेरो को शंका हुई कि दासता में रहते हुए भी हीब्रूज जो उनसे अलग रहते हैं, कहीं उनके विरुद्ध षड्यन्त्र न रच रहे हों। अत: उसने पुन: पुजारियों, विद्वानों और जादूगरों की सभा बुलाई और इस समस्या का हल माँगा। इस पर विद्वानों ने सुझाया कि यदि कानून बना दिया जाय कि हीब्रूज के पुत्र होते ही उसे डुबो दिया जाय तो उनकी पुत्रियों को मिस्री पुरुषों से विवाह करना होगा। इस प्रकार उनका सामाजिक मिश्रण सम्भव हो जायेगा। राजा को यह सलाह पसन्द आई और कानून बना दिया गया।

मूसा का जन्म तथा हीब्रूज का मिस्र से मुक्ति संग्राम

इसी काल में एक हिब्रू अमराम के एक लड़का पैदा हुआ जिसका नाम मूसा मोजेज हुआ। नये कानून के अनुसार उसे डुबो देना था परन्तु उसकी माँ ऐसा न कर सकी। उसने उसे टोकरी में डालकर नील नदी में छोड़ दिया। सौभाग्यवश फेरो की पुत्री वहाँ स्नान करने आई। मोजेज को वह अपने घर ले गई तथा दत्तक पुत्र के रूप में उसे पालने लगी। बड़ा होने पर मोजेज जान गया कि वह हिब्रू है और सोचने लगा कि कैसे अपनी जाति को दासता से मुक्त कराये। एक दिन उसने मिस्री गुलाम चालक को हीब्रू दासों को पीटते देखा। गुस्से से मोजेज ने गुलाम चालक को मार डाला और अपनी सुरक्षा हेतु मिडियन के वीराने में भाग गया। वह पुरोहित जैथरो के उद्यान में पहुँच गया। वहाँ पेड़ों के झुरमुट में उसे एक साधारण चरवाहे की छड़ी जैसी पतली व चिकनी छड़ी जमीन में गड़ी दिखाई दी। पूछने पर जैथरो ने बताया कि जैकब के पुत्र जोजेफ की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति फैरो के खजाने में लाई गई। तब जैथरो राजपुरोहित था। उसको वह छड़ी जो सम्पत्ति के साथ आई थी, पसन्द आई और उसने उसे माँग लिया। राज सेवा से निवृत होने पर जब जैथरो मिडियन में आया तो उसने छड़ी को पृथ्वी में गाड़ दिया। परन्तु गाड़ते ही छड़ी ने पृथ्वी को इस दृढ़ता से पकड़ लिया कि बलवान से बलवान व्यक्ति भी उसे उखाड़ नहीं सके। इस पर मोजेज ने सहज ही छड़ी को खींच लिया और इसका इतिहास जैथरो को बताया। जैथरो मूसा से इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपनी पुत्री जिम्पोरा का विवाह मोजेज से कर दिया। अब मोजेज अपने श्वसुर के पास ही रहने व भेड़ें चराने लगा। परन्तु उसे बार-बार अपने जातीय भाइयों की दासता का ध्यान आता और वह उनकी मुक्ति की योजनाएँ बनाता। जब वह पूरी तरह तैयार हो गया तो अपने भाई ऐरोन के साथ वह फेरो के दरबार में गया और हीब्रू जाति को मुक्त कराने की उससे प्रार्थना की। फेरो के मना करने पर उसने उसे धमकाया और धार्मिक अनिष्ट का भय दिखाया। इस पर फेरो ने हिब्रू जाति को मुक्त कर दिया।

हिब्रूज वरद भूमि को वापस

आज से 3200 वर्ष पूर्व मोजेज हिब्रू का विशाल जन-समूह पाकर पूरब की ओर ईश्वर द्वारा अब्राहम को प्रतिज्ञा में दी हुई भूमि (Promised Land) की ओर ले चला जहाँ उनके विश्वास के अनुसार दूध और शहद की नदियाँ बहती थीं और जो महोबा, उनके परमपिता ने उनको दिया था। अब मोजेज जनसमूह सहित सिनाई पर्वत पहुँचा, जहाँ यहोबा और मुक्त हीब्रूज के बीच एक समझौता हुआ। हिब्रूज का विचार था कि मिस्री जीवन के अनुभवों के अनुसार सिनाई पर उनको देवता के बैल, बछड़े या उल्लू के रूप में दर्शन होंगे। इसके विपरीत, वहाँ उन्हें मात्र एक पर्वत दिखाई दिया। मोजेज से पूछने पर ज्ञात हुआ कि उनका भगवान अन्य देवताओं से भिन्न है और उसके दर्शन करने वाले की मृत्यु हो जाती है। यह कहकर मोजेज सिनाई पर्वत पर चढ़ गया और 40 दिन बाद यहोबा के दस आदेशों के साथ नीचे उतरा। यही दस धर्मदेश यहूदी धर्म के उपदेशों के केन्द्र बिन्दु बने जिनके आधार पर बाद में मोजेज की पाँच पुस्तकें (The Pentastichs) विकसित हुई और हिब्रू धर्म ग्रन्थ पुराना नियम (Old Testament) का प्रथम खण्ड 'तोरह' कहलाता है। इस खण्ड को कानून कहते हैं और इससे ही यहूदी लोग नियम या कानून रूप में संकेत या परमार्श प्राप्त करते हैं।

दस धर्मादेश

1. मैं तेरा परमेश्वर, यहोबा हूँ जो तुझे मिस्र देश से मुक्त कराकर लाया है। तू मुझे छोड़कर किसी और को ईश्वर न मानना।
2. तू अपने लिए कोई मूर्ति गढ़कर न बनाना, न किसी की प्रतिमा बनाना जो आकाश में, पृथ्वी पर या जहान में है। तू उनको दण्डवत् प्रणाम न करना और उनकी उपासना करना।
3. तू अपने परमेश्वर का नाम व्यर्थ में न लेना क्योंकि जो यहोबा का नाम व्यर्थ में लेगा, उसको वह निर्दोष न ठहरायेगा।
4. तू विश्राम दिन (Sabhath Day) को पवित्र मानकर स्मरण रखा। छ: दिनों तो तू परिश्रम करके अपना सब कामकाज करना। सातवाँ दिन तेरे परमेश्वर यहोबा का विश्राम दिन है।
5. तू अपने पिता और माता का आदर करना जिससे जो देश तेरे परमेश्वर यहोबा ने तुझे दिया है, उसमें तू बहुत दिन तक रहने पाये।
6. तू खून न करना।
7. तू चोरी न करना।
8. तू व्यभिचार न करना।
9. तू किसी के विरुद्ध झूठी साक्षी न देना।
10. तू किसी के घर, स्त्री या दास, दासी, बैल, गधे या किसी की किसी भी वस्तु का लालच न करना।

यहूदी धर्म के ये दस आदेश मानव, विशेष रूप से इस्राइल जाति (जो ईश्वर की चुनी हुई जाति मानी जाती है) और ईश्वर के बीच (Covenant) वाचा व्यवस्था है जिसके अनुसार

यहूदियों को अपना जीवन नियन्त्रित एवं अनुशासित करना था। ईश्वरीय व्यवस्था का विवरण इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

"ऐ इस्राइल सुन ! यहोबा हमारा परमेश्वर है। यहोबा एक ही है। तू अपने यहोबा से सारे मन, सारे प्राण और सारी शक्ति से प्रेम करना।" इस व्यवस्था के साथ ही मोजेज ने हिब्रूज से प्रार्थना की कि वह दसों आदेशों को मानें, अपने परमेश्वर से प्यार करें तथा यह अपने बच्चों को भी सिखाएँ।

यहूदी धर्म का मूल एकमात्र ईश्वर (यहोबा) में विश्वास है जिस पर सारा यहूदी नियम और नैतिकता आधारित है। इस धर्म की सभी प्रार्थनाएँ एवं कर्मकाण्ड जो सैकड़ों वर्षों में विकसित एवं मान्य हुए हैं; वे सब एक ईश्वर में अनन्य विश्वास से प्रारम्भ होते हैं। अलेकजेनडिना (Alexendina) का एक दार्शनिक फ़िलो जो 20 ई. पू. से 50 ई. पू. तक रहा, यहूदी धर्म के उपदेशों का सारांश पाँच मौलिक धारणाओं में प्रस्तुत किया है—

(1) भगवान में विश्वास।

(2) यह विश्वास कि भगवान एक है।

(3) यह विश्वास कि भगवान ने सृष्टि रची परन्तु सृष्टि अमर नहीं है।

(4) यह विश्वास कि सृष्टि एक ही है।

(5) यह विश्वास कि भगवान विश्व और इसके जीवों का संरक्षक है।

मानव ईश्वर स्वरूप है

बाइबिल के धार्मिक गीत (Psalm) खण्ड के 8वें गीत में लिखा है कि ईश्वर ने मानव की रचना अपने रूप में की "Man is made in the image of God and is created after his likeness."

प्रारम्भ में भगवान के सम्बन्ध में धारणा मानव रूप में थी और कि वह मानव की भाँति प्यार, घृणा, दया, द्वेष की भावना रखता है। धीरे-धीरे यह धारणा बदलती गई और भगवान एक अशरीरी आध्यात्मिक सृष्टिकर्ता माना जाने लगा। उसकी विभिन्न शक्तियों के प्रकटीकरण के अनुसार उसके कई नाम हो गये।

यहूदी धर्म शास्त्र में ईश्वर के पाँच नाम दिये हैं—

(1) इलोहीम

(2) यहोबा—जीवित (Living) रक्षक, सहायक और मुक्तिदाता

(3) अदोनाइ—स्वामी प्रभू

(4) जीवित परमेश्वर (Living God)

(5) पिता (Father)

विश्वास—परमेश्वर एक है, वह पौरुषेय है एवं व्यक्तित्व सम्पन्न है, परमेश्वर सृष्टिकर्ता है। उसने शून्य से सृष्टि रची और अपने वचन, बुद्धि और संकल्प से सृष्टि की रचना की।

वह परमेश्वर सर्वज्ञानी, सनातन, सर्वशक्तिमान, पवित्र, समस्त सांसारिक बातों और वस्तुओं से पृथक् धर्मी, अनुग्रहकारी, करुणा, दया और प्रेम की मूर्ति एवं मानव इतिहास का स्वामी है। उसकी प्रभुता और सत्ता सार्वलौकिक है।

पाप-पुण्य व्याख्या

यहूदी धर्मानुसार शुभ कार्य करने वाले की आत्मा स्वर्ग जाती है और पापी, अपराधी की आत्मा नर्क में, जहाँ उसे दण्ड दिया जाता है। पापों से मुक्त हो जाने के पश्चात् वह भी स्वर्ग में चली जाती है।

फीस्ट आफ पासओवर (Feast of Passover)

फीस्ट आफ पासओवर (Feast of Passover) यहूदियों की एक पूजा पद्धति है जिसमें पूरा परिवार भाग लेता है। इस वार्षिक पूजा संस्कार की प्रथम रात्रि को यहूदियों की मिस्र की दासता से मुक्ति का उत्सव मनाया जाता है। इसका उद्देश्य युवक-युवतियों को इस मुक्ति संग्राम की याद दिलाना है। इसमें खान-पान परम्परागत ढंग से होता है। गायन और कविता के माध्यम से उनको यहूदी धर्म की शिक्षाओं से परिचित कराया जाता है तथा उनको दस आदेशों में दृढ़ विश्वास रखने को प्रोत्साहित किया जाता है। यहूदी धर्म के सिद्धान्त विस्तार से उनके धर्म ग्रन्थ (Hebrus Old Testament) में सुरक्षित है।

प्रारम्भिक अवस्था में जो यहूदी धर्म मात्र नियम का धर्म था, कालान्तर में अन्य सभ्यताओं तथा धर्मों के सम्पर्क में आने तथा उनसे प्रभावित होने के कारण पर्याप्त परिवर्तित हो गया। यद्यपि अभी भी यहूदी धर्म यहूदियों की जीवन-पद्धति ही है जो उनको अन्य जातियों से पृथक् करता है। इसका कारण यहूदी जाति में ईश्वर के पक्षपातपूर्ण व्यवहार की धारणा है। यद्यपि उनके ईशदूतों (Prophets) ने समय-समय पर इस गलत धारणा के विरुद्ध आवाज उठाई। ई. पू. 8वीं शती में एमोस ने दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया है कि ईश्वर द्वारा चुने जाने से अभिप्राय विशिष्ट अधिकार से नहीं वरन् उत्तरदायित्व से है। इस्राइल जाति का चुनी हुई जाति होना उस पर यह कर्तव्य लाद देता है कि वह विश्व में सच्चे ज्ञान का प्रचार करे तथा एक आदर्श मानव का उदाहरण प्रस्तुत करे।

आजकल यहूदियों में मुख्य दो सम्प्रदाय हैं जिन्हें आर्थोडोक्स (Orthodox) और प्रोग्रेसिव (Progressive) कहते हैं।

यहूदी धर्म के विकास से मध्य एशिया एवं पाश्चात्य जगत को एक जीवन शैली, एक भाषा, एक देशीयता और एक नियम के रूप में एक नैतिक धर्म प्राप्त हुआ। भगवान में अनन्य विश्वास कि वह ही सृष्टिकर्ता तथा उसका संरक्षक है।

13

चीन के धर्म—ताओ धर्म और कनफ्यूशीवाद

"ताओ धर्म"

चीन देश में प्रचलित प्रमुख धर्म चतुष्ट्य (ताओ, कन्फ्यूशियस, बौद्ध एवं इस्लाम) में 'ताओ प्राचीन व अन्यतम है। चीनी भाषा में 'ताओ' का अर्थ है—मार्ग या रास्ता। यह वह मार्ग है जिसे दैव ने मानव व्यवहार के लिये निर्धारित किया है तथा जिस पर आरोहण करके ही उत्तम जीवन की प्राप्ति हो सकती है। इस धर्म का प्रवर्तक 'लाओत्से' (Lao-Tse) को माना जाता है। उनके विषय में पूर्ण प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। विद्वानों के अनुसार उनका जन्म ल्व्यू प्रदेश के चूक्रेन नामक स्थान पर ई. पू. 604 में हुआ। उनके बचपन का नाम 'ली' (Li-Poh-Yang) था, क्योंकि इनका जन्म 'ली' (बेर) के वृक्ष के नीचे हुआ था, परन्तु उनके शिष्यों ने उन्हें (Lao-Tzu) लाओत्से पुकारा जिसका अर्थ है—वृद्ध गुरु-वृक्ष बालक। लाओत्से बालक के समान सरल व निष्कपट स्वभाव के होते हुए भी अत्यन्त बुद्धिमान, एकान्तप्रिय व शान्त प्रकृति के थे। स्वरचित 'ताओ ते चिंग' (Tao Te ching) नामक पुस्तक में उन्होंने मानव के कल्याण मार्ग का प्रतिपादन किया है।

ताओ धर्म में 'ताओ' शब्द का प्रयोग मुख्यत: सृष्टि के मूलभूत निराकार, अनादि-अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, पूर्ण शक्तिमान एवं सर्वस्रष्टा तत्व के लिये हुआ है। ताओ (ईश्वर) ही ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों का आच्छादन व धारण कर रहा है। वह अपने आपको प्रकट किये बिना सहज स्वभाव से कार्य करता है। सृष्टि के यथर्थ स्वरूप की व्याख्या के सन्दर्भ में प्राकृतिक नियमों का अनुसन्धान करते हुए प्राचीन चीनी दार्शनिकों ने यिन (yin) और 'यांग' (yang) नामक दो शक्तियों की अवधारणा को विकसित किया। ऐसी मान्यता है कि ताओ ने 'एक' को उत्पन्न किया और उस एक से दो (यिन-यांग) हुआ। 'यिन' प्रकृति में निषेधात्मक, निश्चेष्ट, निर्बल, स्त्री एवं पृथ्वीरूपिणी शक्ति है तथा यांग सत्तात्मक, रचनात्मक, सबल पुरुष तथा द्यौ रूप शक्ति है। इन दो विरोधी शक्तियों के अन्तर्सम्बन्ध से सृष्टि प्रक्रिया का निर्वाह होता है। समस्त प्रकृति मानवमात्र तथा घटनाएँ इन दोनों ही शक्तियों का सम्मिश्रण है।

धर्मग्रन्थ

1. ताओ ते चिंग (Tao Te ching)—लाओत्से द्वारा रचित इस पुस्तक के शीर्षक का अर्थ है—ताओ और उसके गुणों की पुस्तक। ताओ धर्म के तत्वज्ञान के लिये यह आकार ग्रन्थ है। इसमें लाओत्से के 644 वचन हैं। इसकी लगभग 350 टीकाएँ उपलब्ध है तथा अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

2. चुआङ्-जू (Chuang-Tzu अथवा chung chou)—इस पुस्तक का नाम लेखक के नाम पर है। चुआङ्जू (369-286 BC) चीन का प्रसिद्ध रहस्यवादी दार्शनिक तथा ताओ धर्म का व्याख्याता था।

3. ताओ सांग (Tao Tsang)—इसमें ताओ धर्म का विस्तृत विवेचन है। यह एक पुस्तक नहीं, 1120 पुस्तिकाओं का संग्रह है।

4. थाई शांग (Thai Shang)—अज्ञात लेखक की इस रचना में कर्म-फल का विस्तृत विवेचन है।

प्रमुख मान्यताएँ

1. ताओ जगत् का कर्त्ता है। वह सर्वव्यापक, निराकार, रहस्यमय तथा अवर्णनीय है। वह पत्थर के समान भारी तथा पंख के समान हल्का है। वह समस्त वस्तुओं में व्याप्त एक मूल तत्व है। जो ताओ में ध्यान लगाता है वह ताओ रूप हो जाता है।

2. आत्मा अमर व असीम है।

3. परलोक की सत्ता है। आत्मा कर्मानुसार स्वर्ग-नरक को प्राप्त करती है।

4. जीवन स्वप्नवत् है एवं जगत् के पदार्थ मायामय हैं।

5. 'निज' को पहचानने वाला व्यक्ति ही ज्ञानी है। आत्मज्ञानी पुरुष अपना प्रदर्शन नहीं करता।

6. विषय विमुखता तथा अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को विकसित करने पर बल दिया है। बुद्धिशील प्राणी इन्द्रियों की नहीं आत्मा की अधिक चिन्ता करता है। लाओत्से का दृढ़ विचार था कि केवल पवित्रता एवं शान्ति के द्वारा ही संसार पर शासन किया जा सकता है।

7. ताओ के अनुगामी को शस्त्रास्त्र का आश्रय कभी नहीं लेना चाहिए।

8. श्रेष्ठ जीवन के लिये प्राणायाम तथा आसन सदृश योगाङ्गों पर विशेष बल दिया गया है।

9. सत्कर्मों के आचरण तथा सत्यभाषण पर विशेष बल दिया गया है क्योंकि इसी के द्वारा स्वर्ग-सुख की प्राप्ति संभव है। फल अच्छाई एवं बुराई का उसी प्रकार अनुसरण करते हैं जैसे छाया पदार्थ का।

10. कर्मशील जीवन व्यतीत करने में ही ज्ञान की पूर्णता है।

11. अधर्म के मार्ग पर चलकर धनोपार्जन करना अपनी क्षुधा को दूषित भोजन से अथवा पिपासा को विषयुक्त सुरा से शान्त करने के समान है।

12. पूर्ण आनन्द तथा सुदीर्घ आयु की प्राप्ति इस धर्म के लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिये ताओ के साथ एक रूप होना, शान्त एवं पवित्र जीवन, विनम्रता, शान्ति एवं अहिंसा आदि को अपनाने पर बल दिया गया है। ताओ को वही व्यक्ति अनुभव कर सकता है जो आडम्बररहित निष्कपट एवं जितेन्द्रिय हो। बालक ताओ के अत्यन्त समीप होता है और जो ताओ को पा लेता है वह बालक सदृश हो जाता है।

13. स्वर्ग तथा पृथ्वी पर ऐसी आत्माएँ हैं जो मनुष्य के पापों का हिसाब रखती हैं तथा पापों के अनुसार आयु कम कर देती हैं।

प्रमुख शिक्षाएँ—

1. मनुष्य निर्माण तथा संरक्षण करे, अहंकार त्याग कर कर्म करे, फल की आशा छोड़कर कर्म करे।

2. नम्रता सम्मान की जड़ है। विनीतता उच्चता की नींव। सर्वदा शान्त तथा सर्वथा पवित्र रहो। अपनी जीवनशक्ति नष्ट मत करो, तब तुम सदा जीवित रहोगे।

3. परोपकार के कार्यों में वश से बचना चाहिये, अपने कार्यों में अपयश से। मध्यम मार्ग पर चलना चाहिये।

4. विषय वासना से मुक्त रहने का संदेश दिया गया है क्योंकि विषय-भोग में आसक्ति सबसे बड़ा पाप है।

5. मनुष्यों से समस्वर होना मानवीय आनन्द है तथा ईश्वर से समस्वर होना ईश्वरीय आनन्द।

6. जीवन में मितव्ययता को अपनाना अत्यावश्यक है। धन का सर्वोत्तम उपयोग यही है कि समाज-कल्याण हेतु व्यय किया जाय। धनोपार्जन को ही जीवन का लक्ष्य मानने वाला व्यक्ति ईश्वर के समीप नहीं पहुँच सकता।

7. सन्तोषजन्य तृप्ति स्थायी व परिवर्तनरहित तृप्ति है। संतोषी व्यक्ति का कभी अपमान नहीं होता।

8. जिनके हृदयों में शान्ति होती है उनसे दिव्य ज्योति निकलती है जिनके प्रकाश में वे अपना वास्तविक स्वरूप देख लेते हैं। ऐसी शान्ति के (स्रोत में लौटने को ही शान्ति कहते हैं) विकास से मनुष्य स्थिरबुद्धि बनता है। अतः पूर्णशान्ति की अवस्था में स्थिर रहें।

9. जिनके अन्दर 'ताओ' है, वे इस जीवन में राजा हैं और परलोक में भी। जिनमें ताओ नहीं है वे इस जीवन में तीन दिन का प्रकाश देखते हैं और परलोक में मिट्टी के ढेले बन जाते हैं।

कनफूशीवाद

कनफूशस चीन देश के प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। भारतवर्ष के महर्षि मनु के समान कनफूशस चीन देश के धर्म, राज्य, न्याय एवं आचार-व्यवहार इत्यादि समस्त विषयों के नियम-विधि प्रतिष्ठाता एवं शिक्षा प्रदाता हैं। जिस प्रकार महर्षि मनु द्वारा प्रवर्तित धर्मशास्त्र हिन्दू विचारकों के लिये शिरोधार्य है उसी प्रकार तीन सहस्र वर्षों से आज तक दार्शनिक कनफूशस द्वारा प्रवर्तित धर्मशास्त्र चीन देश के वासियों के लिए अक्षय एवं अचल है।

कनफूशस के जन्म के समय चीन साम्राज्य में सर्वत्र सामन्त-प्रथा प्रचलित थी। साम्राज्य अनेक समस्याओं से ग्रसित था, सम्राट वंश उत्साह शून्य हो गया था और सामन्त राजाओं के मध्य शान्ति स्थापित नहीं कर पा रहा था। देश में कष्ट व कुशासन की धूम थी, बहुविवाह प्रचलित था, स्त्रियों की दशा शोचनीय थी और न्याय का अभाव था।

कनफूशस का जन्म 550 या 551 ई. पूर्व 'लू' राज्य में हुआ जो वर्तमान समय में शानटङ्ग प्रदेश में है। उनका जातीय या वंशागत नाम कुंग था। कुंग फूत्से का लातीनी (लैटिन) स्वरूप ही कनफूशस है। इसका अर्थ है—दार्शनिक या शिक्षा प्रदाता। इनके पिता शू-लियाग हीह 'त्साऊ' जिले के विख्यात वीर सेनापति थे। इनकी माता का नाम इचेल सिङ्ग साई था। इनके पिता की मृत्यु इनके जन्म के तीन वर्ष उपरान्त ही हो गई थी इसलिए इनका बाल्यकाल आर्थिक कठिनाइयों में व्यतीत हुआ। धार्मिक एवं परमपण्डित पितामह के संरक्षण में चले कनफूशस के स्वभाव में पाँच वर्ष की अवस्था से ही धार्मिक संस्कारों एवं कलाओं के प्रति रुचि दिखाई देती थी। पितामह की मृत्यु हो जाने के पश्चात् कनफूशस ने चीन के तत्कालीन अग्रणी पण्डित 'चेङ्गसी' का शिष्यत्व धारण किया। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही वे असाधारण विद्वान बन गये। उन्नीस वर्ष की अवस्था में कनफूशस विवाह सुंग नामक प्रदेश की कन्या से हुआ। विवाह के पश्चात् 'त्साऊ' नामक जिले के स्वामी के यहाँ कनफूशस ने नौकरी की। बाईस वर्ष की अवस्था में इन्होंने एक विद्यालय की स्थापना की इसमें ऐसे युवक और प्रौढ़ शिक्षा ग्रहण करते थे जो सदाचरण और राज्य संचालन के सिद्धान्तों में पारंगत होना चाहते थे। 516 ई. पूर्व में दो सिअल युवक उनके शिष्य बने जिनके साथ राजधानी जाकर कनफूशस ने राजकीय पुस्तकालय में अध्ययन किया और राजदरबार में प्रचलित उच्चकोटि के संगीत का अध्ययन किया। वहाँ अनेक बार इन्होंने 'ताओ' विचारधारा के प्रवर्तक 'लाओत्से' से भी भेंट की। जब कनफूशस लौटकर 'लू' प्रदेश आए तो उन्होंने अनुभव किया कि प्रदेश में बहुत अधिक अराजकता फैल गई है। उन्होंने इसे दूर करने का प्रण लिया। बढ़ती अराजकता से खिन्न होकर वे अपने शिष्यों के साथ 'त्सी' प्रदेश चले गए लेकिन 'त्सी' में रहकर भी उन्हें अच्छा नहीं लगा। वहाँ के शासक द्वारा उन्हें राजकीय अंश का बहुत बड़ा भाग देने का प्रस्ताव रखा गया किन्तु वे चाहते थे कि राज्य उनके परामर्शों के अनुसार चलाया जाय। इसलिए कोई भी सहायता अथवा प्रतिष्ठा स्वीकार किये बिना ही कनफूशस पुनः दुःखी मन से

'लू' प्रदेश लौट आये और लगभग पन्द्रह वर्ष तक एकान्त जीवन व्यतीत करते हुए स्वाध्याय में दत्तचित्त रहे।

52 वर्ष की अवस्था में वे 'चुंगतू' प्रदेश के प्रमुख न्यायाधीश बने। उनके इस पद पर आते ही जनता के व्यवहार में आश्चर्यजनक सुधार हुआ। अब उन्हें तत्कालीन शासक सामन्त द्वारा क्रमशः उच्च पद प्रदान करके अन्त में अपराध-विभाग का मन्त्री नियुक्त किया गया। इसी समय उनके दो शिष्य भी उच्च और प्रभावशाली पद पर नियुक्त हुए। इन्हीं शिष्यों की सहायता से कनफूशस ने जनता के आचार एवं व्यवहार में बहुत अधिक सुधार किया। जनता में ईमानदारी और पारस्परिक विश्वास की वृद्धि हुई। परिणामतः प्रदेश में कनफूशस का आदर व सम्मान होने लगा। उनके इस बढ़ते प्रभाव से 'त्सी' प्रदेश के सामन्त और मन्त्रीगण आतंकित हो उठे और उन्होंने 'लू' प्रदेश की जनता को दिक्भ्रमित करने के लिए नृत्य व संगीत कला में निपुण अत्यन्त सुन्दरियों को 'लू' प्रदेश में भेजा। परिणामतः इस ओर आकृष्ट होकर 'लू' प्रदेश की जनता ने कनफूशस के परामर्शों एवं आदर्शों की अवहेलना शुरू कर दी। सामन्त द्वारा भी अवेलना किये जाने पर और नियमानुसार मास का भाग (आमदनी) न दिए जाने पर कनफूशस ने राज्यसभा एवं 'लू' प्रदेश को छोड़ दिया और 56 वें वर्ष में इधर-उधर भटकते रहे। 13 वर्ष तक वे इधर-उधर घूमते रहे और आशा करते रहे कि कोई ऐसा शासक सामंत मिले जो उन्हें मुख्य परामर्श-दाता नियुक्त करे और उनके परामर्शों से शासन का संचालन करे। शासक उनका सम्मान तो करते थे किन्तु अपनी कार्य-प्रणाली को नहीं बदलना चाहते थे। इस प्रकार 13 वर्ष के भ्रमण के बाद वे पुनः 'लू' प्रदेश में वापस लौट आये। इसी समय उनका एक शिष्य सैनिक अभियान में सफल हुआ और उसने प्रदेश के महामन्त्री को बताया कि अपने गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा एवं ज्ञान से वह सफल हुआ है और पुनः उनका पद प्रदान करने की प्रार्थना की किन्तु कनफूशस ने महामंत्री के निवेदन को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम समय को अपनी साहित्यिक योजनाओं की पूर्ति करने में ही व्यतीत करने में अधिक श्रेयस्कर समझा।

481-82 ई. पूर्व के आसपास चीन के महान दार्शनिक, शिक्षा प्रदाता कनफूशस द्वारा सात दिन की शैय्या के बाद शरीर को छोड़ा गया। आज भी 'कुइफाउ' नगर के बाहर कुंग समाधि स्थल से अलग कनफूशस की समाधि विद्यमान है। समाधि के सामने एक संगमरमर की शिलापट्टी पर अभिलेख अङ्कित है—"प्राचीन महाज्ञानी, सतगुरु, सम्पूर्ण विद्याओं में पारंगत, सर्वज्ञ, नराधिप।"

रचनाएँ

कनफूशस ने अपने विचारों को लिखित रूप देना उचित न समझा, वे पुरातत्व के उपासक थे, उनके अनुसार व्यक्ति एवं समाज के सुधार एवं विकास के लिए नियम और स्वरूप प्राचीन महात्माओं के शब्दों और कार्य-शैलियों में प्राप्त हो सकते हैं किन्तु उनके पौत्र 'त्जे स्जे' द्वारा लिखित 'औसत का सिद्धान्त' (अंग्रेजी अनुवाद—डॉक्ट्रिन ऑव दि मीन) और उनके शिष्य त्सांग सिन द्वारा लिखित 'महान शिक्षा' (अंग्रेजी अनुवाद—द ग्रेट लर्निंग) नामक पुस्तकों में कनफूशस के विचार एवं सुझाव प्राप्त होते हैं। मूलतः कनफूशस के विचार शिष्यों द्वारा संगृहीत किये गये जिन्हें 'लून यू' (Lun-Yu) अर्थात् एनालैक्ट्स कहा जाता है। इसके साथ ही कनफूशस के लगभग सौ वर्षों के बाद जन्म लेने वाले शिष्य मैन्सियम द्वारा भी अपने गुरु के विचारों के प्रचार-प्रसार हेतु एक पुस्तक लिखी गयी इसे 'मैन्सियस की पुस्तक' (Book of Mencius) कहा जाता है।

वर्तमान समय में चीन देश की प्रमुख पूज्य पुस्तक 'आदि पुस्तक' है जो वेदों की भाँति मान्य एवं पूज्य है इसे कनफूशस द्वारा अपने जीवनकाल में ही सम्पादित किया गया। इस आदि-पुस्तक में पाँच ग्रन्थ विद्यमान हैं—इकिङ्ग, सुकिङ्ग, सिकिङ्ग, लिकिङ्ग और चुङ्गछिउ।

इकिङ्ग—यह प्रहेलिका में लिखित है एवं इसकी भाषा अति क्लिष्ट है। यह सबसे प्राचीन एवं पवित्र मानी जाती है। इसमें चीन देश के आमूल परिवर्तन की विषयवस्तु प्राप्त होती है। कनफूशस इस ग्रन्थ के टीकाकार एवं भाष्यकार माने जाते हैं।

सुकिङ्ग—इस द्वितीय ग्रन्थ में चीन राज्य की स्थापना से लेकर कनफूशस के समय तक का समस्त इतिहास वर्णित है। हिन्दू पुराणशास्त्र के समान इसमें धर्मनीति का उपदेश भी संगृहीत है।

सिकिङ्ग—यह तृतीय ग्रन्थ कनफूशस द्वारा रचित नीतिकाव्य है। इसमें प्राचीन कविता, काव्य एवं संगीत का संग्रह है। जिनका प्रयोग चीन देश के वासी उत्सवों के अवसर पर करते हैं।

लिकिङ्ग—यह सबसे वृहद् ग्रन्थ है। यह एक व्यवस्थापरक ग्रन्थ है। इसमें धर्मकर्म की रीतियों एवं नीतियों की विधियों का वर्णन है। यह निर्णय करना कठिन है कि इस ग्रन्थ का मूल अंश कनफूशस ने बनाया है अथवा नहीं।

चुङ्गछिउ—यह कनफूशस की जन्मभूमि 'लू' प्रदेश का इतिहास वृत्त है। 'बसंत और पतझड़' (अंग्रेजी अनुवाद स्प्रिंग एण्ड आटम) नामक इस लघु ग्रन्थ को निर्विवाद रूप से कनफूशस का सृजन माना जाता है। चुङ्ग शब्द से बसन्त और छिउ शब्द से शरदकाल का बोध होता है। बसंत से आरम्भ कर शरदकाल पर सम्पन्न करने के कारण इसका नाम 'चुङ्गछिउ' रखा गया है।

कनफूशीवाद—कनफूशस के दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों पर आधारित मत ही 'कनफूशीवाद' या 'कुंगफुत्सीवाद' कहा जाता है। कनफूशस ने कभी यह दावा नहीं किया कि उन्हें दैवीय शक्ति से अथवा ईश्वर से कोई आदेश अथवा संदेश प्राप्त होते थे। उन्होंने केवल व्यक्ति एवं समाज के कर्त्तव्यों पर चिन्तन-मनन किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने CHUN-TZU (Zhunzi) अर्थात् 'सुपीरियर मैन' के आदर्श को प्रस्तुत किया उनके अनुसार, जो मनुष्य बुद्धिमत्ता से उत्तरदायित्व का पालन करता है और ईमानदारी से कर्त्तव्य का पालन करत है वही सदाचारी है। उनके मतानुसार मानवसेवा ही सबसे बड़ी सेवा है। भलाई करना मनुष्य का ईश्वरप्रदत्त गुण है। इस गुण को अनुवादक करना ही ईश्वर की इच्छा का आदर करना है। समाज का संगठन पाँच प्रकार के सम्बन्धों पर आधारित है—(क) शासक और शासित, (ख) पिता और पुत्र, (ग) ज्येष्ठ भ्राता और कनिष्ठ भ्राता, (घ) पति और पत्नी, (ङ) इष्ट मित्र। ये सम्बन्ध औचित्य नीति और न्याय के आधार पर आदेश और अनुपालन पर आधारित हैं इन्हीं से समाज में प्रतिष्ठा होती है। श्रेष्ठ मनुष्यों के अनुकरण से एवं अपने चरित्र बल के प्रभाव से व्यक्ति व समाज में सुख-समृद्धि का वास होता है। धर्मनिरपेक्षता पर विश्वास करने वाले कनफूशस का मूल सिद्धान्त 'शू' स्वर्णिम नियम पर आधारित है। वह यह है कि दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम उनके द्वारा अपने प्रति किये जाने की इच्छा करते हो। मानव मूल्यों को पुनर्स्थापना हेतु कनफूशस ने 'ली' एवं 'रेन' के अनुकरण पर बल दिया उनके अनुसार 'ली' सभ्यता के अनुकरण का प्रतीक है। इसे कर्त्तव्य निर्वाह के लिए अनिवार्य माना गया। 'ली' का उद्देश्य है ऐसे वातावरण का सृजन करना जिससे मनुष्य स्व-शक्तियों का अनुभव करके उच्चतम, सभ्य श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त कर

सके। जिस प्रकार जल पात्र में समा जाता है उसी प्रकार 'ली' के अनुपालन द्वारा जीवन में स्व-आत्मानुशासन परक शाश्वत् नित्य संतुष्टि का बोध किया जा सकता है।

'ली' से अनुशासित होकर ही स्वयं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। कनफूशस का यही विचार चीनी परम्परा में 'दे' (दाओ—मार्ग) कहा जाता है। कनफूशीवादानुसार 'रेन' का सिद्धान्त व्यक्तिगत चरित्र का एक मापक है जिसका उद्देश्य स्वयं का समीक्षात्मक पुनर्मूल्याङ्कन है। 'रेन' के अनुपालन द्वारा मनुष्य में बाह्य एवं आन्तरिक प्रेम और शुभ गुणों का विकास होता है परिणामत: वह पृथ्वी पर रहकर ही अदृश्य परम शक्ति के गुणों का वाचक बन जाता है। यह विचार बौद्ध धर्म के 'आत्मदीपो भव' के सिद्धान्त के निकटस्थ है।

कनफूशस के अनुसार सत्य आडम्बर रहित होता है। विश्वास एवं दृढ़ता ही जीवन का लक्ष्य है। चिन्ता शून्य विद्या में व्यर्थ ही परिश्रम नष्ट होता है और विद्या शून्य चिन्ता भी नाश की जननी है। श्रेष्ठ जनों के कथनानुसार आचरण कर जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है। ज्ञानी-जन बात में कड़े किन्तु व्यवहार में बड़े होते हैं। ज्ञानी-जन स्वयं में और अबोध जन दूसरे में प्राप्तव्य ढूँढ़ते हैं। प्रतिपल ज्ञान संलग्न रहना चाहिए और सीखी हुई विद्या को अपने व्यवहार एवं कार्य में परिणत करना चाहिए।

व्यावहारिक दृष्टि से कनफूशस वर्तमान के उपासक थे उन्होंने दृढ़ जीवन की उन्नति एवं अवनति पर ही उपदेश दिया। यद्यपि उन्होंने भूत और भविष्य, लोक-परलोक, सृष्टितत्त्व मनस्तत्त्व, वस्तुतत्त्व इत्यादि विषयों पर मीमांसा करने की चेष्टा नहीं की तथापि यह स्वीकार किया कि मूल पदार्थ अनन्त काल से विद्यमान है। मूल इन्द्रिय ग्राह्य वस्तु के साथ समभाव में रहता है। यह कारण अनन्त, अक्षय, असीम, सर्वशक्तिमान और सर्वत्र विराजमान है। कनफूशीवाद के अनुसार मनुष्य देह दो विषयों से निर्मित है। प्रथम सूक्ष्म अदृश्य एवं ऊर्ध्वगामी है और द्वितीय स्थूल, इन्द्रियग्राह्य तथा निम्नगामी है। इन दोनों मूल विषयों के पृथक् होने पर सूक्ष्म देह आकाश की ओर उड़ जाता है और स्थूल देह पृथ्वी से मिल जाता है। इनके दर्शन में 'मृत्यु' शब्द की व्याख्या नहीं है स्थूल देह मिट्टी से मिलकर जगत् के अंश में गण्य होता है किन्तु सूक्ष्मदेह चिर वर्तमान रहता है और मध्य-मध्य पृथ्वी पर अपने पूर्व वासस्थान पर आ पहुँचता है। यह सकल सूक्ष्म देहभूत पूजा पाने पर अपने वंशधरों का मंगल विधान करते हैं इसी विश्वास के कारण चीन परम्परा में पितृमन्दिरों में पूर्ण निष्ठा व भक्ति के साथ उत्सवादि मनाने की व्यवस्था है। कनफूशस ने प्रतिमा अथवा ईश्वर की आकृति विशेष पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने ईश्वर के प्रेम में उदासीन रहने की अपेक्षा मानव जीवन की मनोहारिता एवं चमत्कारिता सम्पादित करने में ही मानव का कर्त्तव्य समझा। उनके अनुसार सच्चा विषय विरागी, पृथ्वी परित्यागी और निर्लिप्त वैरागी वही है जो समाज में रहे, साथी मनुष्यों के चरित्र उत्थान में सहयोग दे। उनका स्पष्ट मत था कि—"अप्रमेय अचिन्त्य एवं अवाङ्मनसगोचर ईश्वर को पाने के लिए वैरागी होकर और माता-पिता आत्मीय स्वजन तथा कन्या पुत्र को छोड़कर नानाविध अतिमानुषिक क्रियाकलाप के अनुष्ठान की अपेक्षा इह जीवन की विचित्रता एवं मनोहारिता का सम्पादन करना ही युक्ति सङ्गत है।"

14

जापान का धर्म—शिंतो धर्म

शिंतो धर्म जापान का राष्ट्रीय धर्म है। इस धर्म का विकास बौद्ध, ईसाई एवं इस्लाम आदि की भाँति किसी एक युगपुरुष की प्रभावपूर्ण शिक्षाओं का प्रतिफल नहीं है। हम कह सकते हैं कि जापानी देशभक्ति का उत्साहपूर्ण धार्मिक स्वरूप ही शिंटो धर्म है। इनके तीर्थस्थल जापान के महान नायकों तथा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति में निर्मित हुए हैं।

छठीं शताब्दी से पूर्व तक 'शिंतो' शब्द का प्रयोग नहीं था। कालान्तर में चीन व कोरिया के धर्मों—बौद्ध, ताओ व कन्फ्यूशियस का प्रभाव जापान में बढ़ने लगा अत: मूल जापानी धर्म को आयातित धर्म से पृथक् प्रदर्शित करने के लिये शिंतो नाम प्रदान किया गया। यह नाम जापानी भाषा का न होकर चीनी भाषा का है। चीनी भाषा में शेन ताओ (Shen-Tao) का अर्थ है—देवताओं का मार्ग। उसी 'शेन-ताओ' का संक्षिप्त रूप है 'शिंतो'। जापानी भाषा में इसी का नाम है—(Kami No Michi) कामी नो मीची—अर्थात् 'देवताओं का मार्ग'। सामान्यत: 'कामी' का अर्थ 'देवता' (Gods) किया गया है किन्तु कुछ विद्वानों में 'कामी' को 'मन' के रूप में परिभाषित किया है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, नदी, वृक्ष एवं पशु आदि 'कामी' देवता माने गये हैं। शिंतो धर्म के अनुसार आकाश में अनेक कामी हैं। उनमें से पुरुषकामी 'इजानागी' (Izanagi) तथा स्त्रीकामी 'इजानामी' (Izonami) ने जापान के आठ द्वीपों को उत्पन्न किया। उन दोनों देवताओं की सन्तान जापान में निवास करने लगी जिनमें सर्वश्रेष्ठ थी सूर्यदेवी, जिसे 'अमाटे-ओमी-कामी' कहा गया है। जापानी राजवंश सूर्यदेवी से उत्पन्न माना जाता है। सूर्यदेवी का पौत्र जिम्मूटेन्नौ तथा उसके वंशज पृथ्वी पर देवताओं के प्रतिनिधि माने गये। उन्हें पृथ्वी पर शासन का अधिकार प्रदान किया गया और उनकी प्रजा को सूर्यदेवी के समान ही उनकी पूजा का भी आदेश दिया गया। इस प्रकार 'मिकाडो' (जापान नरेश की उपाधि) को दिव्य माना गया। वस्तुत: स्वसम्राट (मिकाडो) तथा स्वदेश के प्रति अनन्य भक्ति इस धर्म का प्रधान अङ्ग रहा है। शिंतो धर्म की मुख्य विशेषता इस मूलभूत सुदृढ़ विश्वास में है कि देवता (कामी), मानव एवं समस्त प्रकृति एक ही स्रोत (माता-पिता) से उत्पन्न हैं अत: एक ही कुटुम्ब है। प्रत्येक वस्तु 'कामी' से उत्पन्न है अत: सभी में कामी की प्रकृति है और वह सम्भाव्य (Potential) कामी है। उनके इसी विश्वास ने जापानियों की समग्र जीवन-शैली को अत्यधिक प्रभावित किया। न केवल धार्मिक दृष्टि से प्रत्युत् सामाजिक-व्यक्तिगत व्यवहार शैली, जीवन के प्रति मनोवृत्ति (सदाचार) के निर्माण में राजपद के प्रति आदरभाव विकसित करने में कर्त्तव्य के प्रति पूर्ण निष्ठा, सुरक्षा तथा निर्भयता का गुण उत्पन्न करने में उपर्युक्त धार्मिक विश्वास ने अभूतपूर्व योगदान किया। कामी की उपासना के लिए जापान में अनेक मन्दिर (पूजा स्थल) निर्मित हुए। व्यक्तिगत गृहों में भी पूर्वजपूजा तथा कामी की पूजा के लिये मन्दिर छोटे-छोटे कामी दाना प्रतिष्ठित किये गये। अमातेरासु तथा सुसानु (Susanoo) सर्वाधिक लोकप्रिय देवता थे।

धर्मग्रन्थ–जापानी धर्मग्रन्थों में दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं–'कोजीकी तथा निहोंगी'। जापान की पुराकथाएँ–या-सुमारो (Yasumaro) द्वारा 712 ई. में कोजीकी पुस्तक में संग्रहीत की गई। निहोंगी का संग्रह 720 ई. में किया गया। इन पुस्तकों में सृष्टि रचना की कथाएँ, मिकाडो (जापान नरेश की उपाधि) की दैवी उत्पत्ति तथा जिम्मू आदि सम्राटों की वंशावलियों का विवेचन है। इनमें नीति व आचार सम्बन्धी शिक्षाएँ भी प्रदान की गई हैं। कोजीकी में जापान में चीनी सभ्यता के प्रवेश का विवरण भी उपलब्ध है।

प्रमुख मान्यताएँ–(1) जापान देवताओं का देश माना जाता है। समुद्र नदियों, पृथ्वी तथा पर्वतों को भी देवता माना गया है। फुजी पर्वत महान देवता है तथा जापान का रक्षक है। इन देवों को श्रद्धा से नमस्कार करते हुए खाद्य-पेय पदार्थ अर्पित किये जाते हैं तथा प्रार्थनाएँ की जाती हैं। निष्कपट प्रार्थना से ही ईश्वर की सर्वत्र उपस्थिति की अनुभूति होती है, ऐसा दृढ़ विश्वास है।

(2) देवता हृदय की पवित्रता व सद्गुणों से प्रेम करते हैं, पूजा अर्चना के पदार्थों से नहीं।

(3) अमेनूमीन कानुसी उपनिषदों के ब्रह्म के समान सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान तथा गुणातीत है। समस्त दृश्य-अदृश्य पदार्थ उसी में समाहित हैं।

(4) धर्मविहीन व्यक्ति चक्षुविहीन के समान है।

(5) जब अमातेरासू ओमी कामी का तथा मानव का हृदय एक हो जाता है तब मृत्यु नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती है।

(6) मनुष्य जब तक सत्य को अपना आश्रय बनाये रखता है, ईश्वर तब तक उसकी रक्षा करता है।

(7) समग्र धनैश्वर्य से क्षमा का मूल्य अधिक है क्योंकि यही सन्तोष का मूल है।

(8) पूर्वज पूजा, माता-पिता की सेवा, गुरुजनों की शिक्षाओं का पालन, असत्य का परित्याग, स्वामी की परिश्रमपूर्वक सेवा तथा बच्चों से प्रेम पर विशेष बल दिया गया है।

(9) उदारता, साहस, न्याय, सत्यता, विनम्रता, सम्मान निर्लिप्तता व कृतज्ञता–प्रत्येक मानव को इन्हें प्राप्त करने के लिये प्रयास (संघर्ष) करना चाहिये।

प्रमुख शिक्षाएँ

1. यह बात मत भूलो कि जगत् एक विशाल परिवार है।
2. ईश्वर प्राप्ति का निश्चित मार्ग कपट त्याग है।
3. स्वर्ग तथा नरक मनुष्य के मन में है। अत: मन पवित्र रखें।
4. सदाचार पर अटल रहें। यह जीवन से भी अधिक बहुमूल्य है।
5. अध्ययन में परिश्रम करो ताकि ईश्वर की इच्छाओं पर आचरण कर सको।
6. यदि सहायता प्राप्त करना चाहते हो तो अहंकार का त्याग करो।
7. इस प्रकार जीवन व्यतीत करें कि जब संसार को छोड़ने का समय आये तो स्वर्ग तथा गीतगृह के भागी बन सकें।
8. अपने को वश में करना ही परोपकार का मूल है।
9. शिष्टाचार को अपना प्रमुख नियम बनाये। यदि बड़े लोगों का व्यवहार शिष्टता से शून्य होगा तो छोटों में कुव्यवस्था आ जायेगी और जब छोटों में कुव्यवस्था आ जाती है तब अपराधों में वृद्धि होती है।
10. दया देव प्रतिनिधि है। दयालु तथा उदार जनों की आयु बढ़ाई जायेगी।

15

ईसाई धर्म

पृष्ठभूमि

ईसाई धर्म का विकास यहूदी धर्म से हुआ। यहूदियों के दूसरे पैगम्बर मूसा जब यहूदियों को मिस्र की दासता से मुक्त कराकर पैलेस्टाइन में लाये, तब से यहूदियों को यह विश्वास दृढ़ हो गया कि आवश्यकता के समय उनका भगवान 'यहोबा' उनकी सहायता तथा उनके शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए उनका मुक्तिदाता भेजेगा जो उनके लिए स्थायी न्याय एवं शान्ति की व्यवस्था करेगा। यह मुक्तिदाता मसीहा कहलाता था। 'The Anointed one'। रोमनों द्वारा पैलेस्टाइन की पूर्ण विजय के करीब 100 वर्ष पहले ऑगस्ट्स सीजर के शासन काल में यहूदियों की यह आशा अति बलवती हो उठी थी क्योंकि इस युग में यहूदियों की मुसीबतों का अन्त नहीं था। इन्हीं दिनों 30 पृष्ठ से भी कम की एक पुस्तक 'Book of Daniet' उत्साह से पढ़ी जाती थी और बहुचर्चित थी। इसमें मसीहा के आने के सम्बन्ध में स्वप्न का वर्णन था कि डेविड का वंशज एक मानव पुत्र संसार में आदर्श राज्य स्थापित करने आयेगा और मानव मात्र के लिए सुख व शान्ति स्थापित करेगा; परन्तु यह कब होगा ? किसी को पता न था। इन्हीं दिनों यद्यपि जूडिया का शासक ऑगस्टस सीजर (रोमन) था परन्तु जूडिया का अपना राजा हैरेड टू ग्रेट था जो बड़ा अत्याचारी था। मसीहा के आने की चर्चा से वह भड़क उठता था क्योंकि लोगों का विश्वास था कि यह 'मसीहा' जो डेविड का वंशज होगा, वही यहूदियों का राजा होगा। हैरेड जब 70 वर्ष का था तो उसके गुप्तचर ने सूचना दी कि तीन विद्वान् फारस से बहुत-से बहुमूल्य भेंटों के साथ जेरूसलम आये हैं और उस नवजात शिशु के बारे में पूछते हैं जो यहूदियों का राजा होगा। वे उसकी पूजा करने आये हैं।

यीशू का जन्म

हैरेड घबरा उठा। उसने तत्काल उन तीनों विद्वानों को बुला भेजा। विद्वानों से हैरेड ने सब चिह्न पूछे और उनसे शिशु का पता लगाकर राजा को बताने को कहा, ताकि वह भी उसकी पूजा कर सके। विद्वान 'बैंगनी सितारे' के पीछे-पीछे जेरूसलम से बाहर **बैथेलहम** में पहुँच गये और वहाँ उन्होंने वह शिशु एक घर में पाया जहाँ जोजफ मिस्त्री व मेरी अपने नवजात पुत्र सहित रह रहे थे। शिशु का जन्म 4 ईसा पूर्व बैथेलहम की एक सराय में हुआ था। विद्वानों ने शिशु की पूजा की, भेंट चढ़ाई और वापस फारस चले गये। उसी रात जोजफ को स्वप्न द्वारा ज्ञात हुआ कि हैरेड के दूत जीसस को मारने के लिए ढूँढ़ रहे हैं। अत: प्रात: उठते ही वह पत्नी तथा पुत्र सहित मिस्र पलायन कर गया।

यीशू की शिक्षा

यीशू को न ढूँढ़ सकने पर हैरेड ने **बैथेलहम** के दो साल के छोटे समस्त बच्चों को मरवा डाला परन्तु शीघ्र ही हैरेड की मृत्यु हो गई और जोजफ पुन: परिवार सहित वापस आ गये और नाजरथ में रहने लगे। नाजरथ जेरूसलम से 55 मील दूर था। सम्पन्न परिवार के बच्चे जेरूसलम में रबीज से शिक्षा प्राप्त करने जाते थे परन्तु जोजफ गरीब मिस्त्री था। उसने जीसस को यहूदी धर्म के उपदेशों से स्वयं परिचित करा दिया और माता मेरी ने दोनों समय की प्रार्थना सिखा दी। रविवार और अन्य छुट्टी के दिन जीसस सिनेगांव (मन्दिर) में जाकर बाइबिल सुनता था। इस प्रकार जीसस पवित्र नियमों, धार्मिक रीति, विचार तथा पूजा पद्धति आदि के बारे में प्रशिक्षित हो गया। वह विचारमग्न मन्दिर में बैठकर धार्मिक कथाओं को सुनता रहता था। मसीहा के आगमन-सम्बन्धी चर्चा सुनना उसे बहुत पसन्द था।

यीशू की प्रथम तीर्थयात्रा

12 वर्ष की आयु में उस समय के रिवाज के अनुसार जीसस धर्म में दीक्षित (Confirm) हो गया और अब उसे धार्मिक नियम का अध्ययन करना था। दीक्षित व्यक्ति को प्रति वर्ष जेरूसलम की यात्रा कर पवित्र भोज (Passover Feast) में उपस्थित होना अनिवार्य था। अत: 12 वर्ष की आयु (8 ई.) में यीशू जीवन में पहली बार जेरूसलम की यात्रा पर गया। यह 55 मील की यात्रा उसको माता-पिता के साथ पैदल ही करनी पड़ी। उसने भगवान के नगर और भगवान के मन्दिरों के विषय में बहुत कुछ सुना था और कल्पना भी की थी जहाँ सहस्त्रों यात्री विभिन्न देशों से प्रति वर्ष अपने यहोबा की सेवार्थ आते थे। जेरूसलम पहुँचते ही वह चारों ओर देश और विदेश से आये यात्रियों को विभिन्न भाषाओं में बोलते व विभिन्न वेशभूषा में सजे एक विशाल भीड़ के रूप में देखकर चौंका। इस भीड़ में चौकीदार व रोमन सिपाही भी नियन्त्रण हेतु उपस्थित थे। सबसे अधिक असन्तोष उसे मन्दिर में प्रवेश करने पर हुआ जहाँ शान्ति और पवित्रता का वातावरण न होकर बलि पशुओं की बिक्री का बाजार व विदेशी मुद्रा परिवर्तन हेतु महाजनों का लेन-देन हो रहा था। उसका मन और उदास हो उठा जब उसने मन्दिर के पुरोहितों को धार्मिक नियम अति दुरूह भाषा में समझाते हुए सुना जो साधारण व्यक्ति की समझ से परे थे। पवित्र भोज की समाप्ति पर वह माता-पिता के साथ वापस नाजरथ आ गया परन्तु भगवान के मन्दिर के सम्बन्ध में उसका स्वप्न भंग हो चुका था। अब वह और भी विचारमग्न रहने लगा और डेनियल की पुस्तक में चर्चित मसीहा के आने के बारे में सोचता रहता जो मानव जाति का मुक्तिदाता होगा।

यीशू का पवित्र स्थान

जब यीशू 30 वर्ष का हुआ, तब तक उनके पिता जोजेफ की मृत्यु हो चुकी थी और उनकी माँ मेरी अपने जन्म स्थान केना में चली गई थीं। यहाँ यीशू अपने पिता का व्यवसाय करने लगा। प्रति रविवार को वह 'सिनेगांव' (मन्दिर) में प्रार्थना के लिए जाता था। उस युग के रिवाज के अनुसार प्राय: खड़ा होकर यहूदी नियम का स्पष्टीकरण करता। जनता इससे इतनी प्रभावित हो गई कि वह उसे अपना गुरु कहने लगी। इसी बीच जॉन और उसकी पत्नी एलिजाबेथ जो जूडिया में गार्डन नदी के तट पर नई खुशखबरी सुना रहे थे—के बारे में उसने चर्चा सुनी। खुशखबरी यही थी कि मसीहा शीघ्र प्रकट होने वाले हैं। बहुत सारी भीड़ जॉन के निकट एकत्रित हो गई और जॉन शुभ संदेश देने से पूर्व उनको जार्डन नदी में पवित्र स्नान कराता फिर संदेश देता क्योंकि ऐसा

विश्वास किया जाता था कि नदी में स्नान द्वारा पाप धुल जाते हैं। इसी कारण जॉन को 'बैपटिस्ट' कहा जाता है। यद्यपि जॉन जूडिया के दक्षिण में प्रचार कर रहा था पर यह समाचार उत्तर में गैलिली के केना ग्राम में भी पहुँच गया। यीशू दुकान छोड़कर दक्षिण की ओर जॉन बैपटिस्ट से मिलने चल पड़ा जो माँ मेरी के अनुसार यीशू का तीसरा कजिन (Cousin) था।

जार्डन नदी के किनारे यीशू ने विशाल जनसमूह से घिरे एक व्यक्ति को देखा जो बड़े जोश के साथ उनको उपदेश दे रहा था। उसके हुलिये से यीशू समझ गया कि वही जॉन बैपटिस्ट है। उसके उपदेश की समाप्ति पर यीशू उसके निकट गया और जॉन द्वारा बैपटाइज होने की प्रार्थना की। जॉन कुछ झिझका और कहा कि उसे स्वयं यीशू द्वारा बैपटाइज होना चाहिए परन्तु यीशू के हठ करने पर जॉन ने उसे बैपटाइज कर दिया। 27 ई. में अपनी आयु के 31वें साल में यीशू की जॉन से भेंट उसके जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यहीं से यीशू का पैगम्बरी काल प्रारम्भ होता है जो कुल तीन वर्ष चला और यीशू के शूली चढ़ने के साथ समाप्त हो गया।

यीशू का पैगम्बरी जीवन

वर्षों से यीशू मसीहा मुक्तिदाता के विषय में सुनता व पढ़ता आया था परन्तु जॉन के मुँह से उसने स्पष्ट सुना कि वह मुक्तिदाता निकट ही है। जॉन के मन में लेशमात्र भी शंका नहीं थी। यीशू जॉन से अलग हो जूडिया के वीराने में चला गया, जहाँ 40 दिन तक प्रार्थना व ध्यान में मग्न रहा। वीराने से यीशू घर लौट आया। उसके विचार मानव भ्रातृत्व एवं विश्व शान्ति पर केन्द्रित थे। परन्तु वह दीर्घ काल तक गैलिली में नहीं रहा क्योंकि पवित्र भोज का समय निकट था और उसे वार्षिक तीर्थ यात्रा पर जाना था।

यीशू पवित्र नगरी जेरूशलम पहुँचा। वह स्वर्ग के विषय में सोच रहा था। मन्दिर के अहाते में वहीं बँधे पशुओं का मिमिआना जारी था। व्यापारी महाजनों का लेन-देन व शोरगुल पहले जैसा ही था। इस पवित्र भोज के प्रति अनादर भाव ने उसकी आत्मा को विद्रोही बना दिया और उसने एक चाबुक ले सब पशुओं, व्यापारियों और महाजनों को मन्दिर के अहाते से बाहर निकाल दिया। उनकी मेजें उलट दीं और चिल्लाया, "भगवान के घर को बाजार मत बनाओ। अपनी सब चीजें यहाँ से ले जाओ।" यीशू के इस व्यवहार ने पुरोहितों के क्रोध को भड़का दिया। व्यापारियों को उनके द्वारा दी गई आज्ञा के विरुद्ध उसने पुरोहितों के अधिकार को चुनौती दी थी। वह जानता था कि नबी अपने देश व घर में अनादर ही पाता है अत: पवित्र भोज के पश्चात् यीशू गैलिली चला गया और उसने नाजरथ तथा केना में उस धर्म का उपदेश दिया जो हृदय से उत्पन्न होता है। अब वह गैलिली झील के किनारे 'कैपरनम' एक मछुओं की बस्ती में पीटर और एण्ड्रू दो भाइयों के साथ रहने लगा जिनको विश्वास था कि यीशू ही प्रतीक्षित मसीहा है। प्राय: वह झील के किनारे एकत्रित मछुओं को उपदेश देता। धीरे-धीरे यीशू का यश दूर-दूर तक फैलने लगा और दूर-दूर से लोग उसके दर्शन व उपदेश सुनने को आने लगे। एक बार एक बड़ा जनसमूह केपरनम के पास एक पहाड़ी पर एकत्रित हो गया। यीशू ने अपना प्रसिद्ध उपदेश जो 'सरमन ऑन द माउन्ट' (Serman on the mount) कहलाता है, यहीं पर दिया। इस उपदेश में उसने स्पष्ट कर दिया कि उसके उपदेश यहूदी पुरोहित विद्वान तथा उससे पूर्व आये नबियों या ईशदूतों से किस प्रकार भिन्न हैं।

अपोसिल्ज तथा धर्म प्रचार

अपने अनुयायियों में से यीशू ने 12 शिष्य चुने जिनको वह 'अपोसिल्ज' कहता था। इन्हें उसने विभिन्न दिशाओं में मसीहा (पैगम्बर) के आने की सूचना देने को भेज दिया। अब बड़ा

जनसमूह यीशू के प्रवचन सुनने को आता रहा। यहाँ तक कि प्राय: यीशू को खाना खाने का भी अवसर न मिलता। इसी काल में उसे सूचना मिली कि हैरेड ऐंटोपास ने जो हैरेड महान का पुत्र था, जॉन बैपटिस्ट को मरवा दिया है क्योंकि उसने राजा के विरुद्ध जनता में उसके कुशासन की चर्चा की थी। अब यीशू जन गया कि सर्वश्रेष्ठ युद्धभूमि शत्रु का कैम्प होती है। अत: यीशू ने कैपरनम के बाहर जूडिया, जेरूसलम आदि जाकर धर्म प्रचार करने का निश्चय किया। यीशू खतरे को जानता था फिर भी वह जरूसलम धर्म प्रचार हेतु गया। उसके जरूसलम पहुँचने का ज्ञान होते ही यहूदी पुरोहितों ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने आरम्भ कर दिये। ये कट्टर यहूदी धर्म नेता फेरीसीज कहलाते थे जो लोगों को प्राचीन मूसा के समय के यहूदी धर्म नियमों पर विश्वास करने को कहते थे। वह स्वयं स्वर्ग-नरक में या मृत्यु पर्यन्त जीवन में विश्वास नहीं करते थे। यीशू द्वारा मूसा के दस कठोर नियम और कानून (Law) के विरुद्ध दिये गये उपदेशों ने फेरीसीज की क्रोधाग्नि को भड़का दिया परन्तु जेरूसलम में रोमन शासन होने के कारण कोई भी व्यक्ति ऐसा धर्म प्रचार कर सकता था जो भगवान के अस्तित्व अथवा रोमन शासन के विरुद्ध न हो। अत: यीशू को चुप कराने के लिए आवश्यक था कि वह राजद्रोही या ईश्वरद्रोही सिद्ध हो। यहूदी विद्वानों और फेरीसीज ने यीशू से बहुत बहस की परन्तु धर्म के विरुद्ध या राज्य के विरुद्ध वह कुछ न पा सके। अब यीशू ने खुल्लम-खुल्ला जन-साधारण को इन कट्टर यहूदी पण्डितों से चौकन्ने रहने का उपदेश देना शुरू कर दिया।

अन्तिम तीर्थ यात्रा

33 वर्ष की आयु, 29 ई. में यीशू पुन: पवित्र भोज में भाग लेने जेरूसलम गया। इस बार वह अकेला न था। उसके पीछे अनुयायियों का विशाल जनसमूह था जो उसके गुणगान करता चलता था और उसे नाजरथ का नबी बताता था। मन्दिर में प्रवेश करते ही यीशू को वही पुराना दृश्य मिला और फिर उसने सबको बाहर निकाल दिया। जब वह अकेला आया था, तब फैरीसीज उससे डरते नहीं थे परन्तु अब उसके साथ विशाल संख्या में उसके अनुयायी थे। अत: फैरीसीज उससे भयभीत थे। उन्होंने यीशू के धर्म प्रचार को बन्द करने के लिए तथा उसके अनुयायी बढ़ने से रोकने का कोई मार्ग ढूँढ़ निकालने की गुप्त मंत्रणा प्रारम्भ कर दी।

यीशू मन्दिर के वापस बैथनी आ गया जो जरूसलम से दो मील दूर था और जहाँ वह अपने मित्रों के साथ ठहरा था। वह जानता था कि उसने पुरोहितों और फेरीसीज को अपने विरुद्ध भड़का दिया है और दिन में कई बार उसने अपने शिष्यों को यह इशारा दिया कि उसका अन्त निकट है परन्तु उसके शिष्य अपने मसीहा के कथन को समझ नहीं पाये। इसके विपरीत, वह मन ही मन प्रसन्न थे कि इस पवित्र भोज पर यीशू अपने को मसीहा के रूप में प्रकट कर देंगे परन्तु यीशू मन्दिर के निकट यात्रियों की बढ़ती हुई प्रसन्न भीड़ को देख रहा था और साथ ही अपने अन्त के विषय में भी सोच रहा था।

अन्तिम प्रतिभोज

पवित्र भोज की पहली रात को यीशू अपने बारह शिष्यों के साथ खाने की मेज पर बैठा तो शिष्यों में यीशू के निकट की कुर्सी पर बैठने के लिए परस्पर झगड़ा होता देख उसने उठकर चिलमची में पानी लेकर शिष्यों के पैर धोना शुरू कर दिया। इस प्रकार दीनता का आदर्श उनके सामने प्रस्तुत किया। अब शिष्यों की प्रसन्नता का लोप हो चुका था। इसी समय उसने कहा कि

उन 12 शिष्यों में से एक उसको धोखा देगा। खाना समाप्त हो जाने पर उसने सब पर दृष्टि डालते हुए प्रेमपूर्वक समझाया कि वे सब परस्पर प्रेमपूर्वक रहें। जैसे वह उनसे प्यार करता है, ऐसे ही वह एक-दूसरे से प्यार करें, ताकि सब जान जायें कि वे यीशू के शिष्य हैं। उसी रात यीशू प्रार्थना व ध्यान के लिए शिष्यों सहित उद्यान में गये। परन्तु उनका एक शिष्य 'जूडास' उनके साथ न था। आधी रात के पश्चात् उद्यान में जूडास के साथ कुछ सिपाही व अधिकारी यीशू को ढूँढ़ने आये। यीशू के पूछने पर उन्होंने बताया कि वह नाजरथ के यीशू को ढूँढ़ने आये हैं। यीशू ने अपने को उनके हवाले कर दिया। महापुरोहित के दरबार में यीशू ले जाया गया जहाँ रात भर उससे पूछताछ होती रही। फिर वह जजमेंट हाल में जेरूसलम के गवर्नर पाइलेट के सामने प्रस्तुत किया गया जहाँ पूरी न्यायिक जाँच होने के पश्चात् उसे मृत्यु दण्ड सुनाया गया। उस युग में रिवाज के अनुसार गवर्नर को अधिकार था कि पवित्र भोज से पूर्व वह एक अपराधी को क्षमा कर सकता था।

यीशू को मृत्यु दण्ड

गवर्नर के पूछने पर जजमेंट हॉल के नेताओं ने जीजेज बार अब्बास जो घोर अपराधी था और रोमन राज के विरुद्ध राजद्रोही सिद्ध हो चुका था, को क्षमा करने को कहा। अत: यीशू को शूली पर चढ़ाने की राजाज्ञा हो गयी। जब यीशू मृत्यु दण्ड स्थल की ओर अपनी शूली को उठाकर जा रहा था तो सिपाही और भीड़ उसका उपहास कर रही थी। उस समय यीशू ने ईश्वर से प्रार्थना की, "हे भगवान, इन्हें माफ करना। यह नहीं जानते कि यह क्या कर रहे हैं।" शूली पर चढ़े कई घंटों की पीड़ा जब असह्य हो गई तो यीशू ने पुकारा, "हे भगवान ! तुमने मुझे क्यों त्याग दिया है? हे ईश्वर ! मैं अपनी आत्मा तुम्हें सौंपता हूँ।" यह कहते ही उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।

यीशू की मृत्यु दण्ड का प्रभाव

यहूदी यीशू को मारने के इतने पक्ष में न थे जितने उनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय को समाप्त करने के। उनका विश्वास था कि यीशू के मरने के बाद उसके अनुयायी भी समाप्त हो जायेंगे। परन्तु हुआ इसका विपरीत। उसके अनुयायियों ने गुप्त रूप से एकत्रित होकर उसके उपदेशों का प्रचार करने का फैसला किया। वे अपने गुरु को जीसस क्राइस्ट कहने लगे अर्थात् जो ईश्वर द्वारा चुना हुआ है। 'Anointed one' अपने को क्राइस्ट के अनुयायी अर्थात् क्रिश्चियन कहने लगे। यीशू राजनीति में भाग नहीं लेते थे। बिना तर्क के राजाज्ञा के सामने झुक जाते थे। अत: रोमन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने की उनकी कोई इच्छा न थी। वे कहते थे कि सत्य और न्याय इस संसार की देन नहीं है फिर कोई क्यों परेशान हो ? इस प्रकार कष्ट सहने के द्वारा वह जुल्म पर विजय प्राप्त करने की शक्ति उत्पन्न करने पर बल देते थे और वह शक्ति शुद्ध हृदय से संसार से उपराम चित्त होने में ही है।

ईसाई धर्मोपदेश

यीशू का सर्वसाधारण के लिए प्रसिद्ध उपदेश जो 'सरमन ऑन द माउंट' कहलाता है, नैतिक आचरण का आधार है। इस उपदेश द्वारा यीशू ने न केवल यहूदी कट्टर धार्मिक 'नियम' में समय की आवश्यकता के अनुसार सुधार किया है वरन् उस 'नियम' का आध्यात्मिक महत्त्व स्पष्ट करते हुए मानव को सच्चा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने को प्रेरित किया है; ताकि वह अपने परम पिता के साथ एकाकार हो, मुक्ति का अधिकारी बन सके।

1. वे धन्य हैं जो दीन हैं। उन्हीं को स्वर्ग प्राप्त होगा।

2. वे धन्य हैं जो विनम्र हैं। उन्हीं को पृथ्वी का उत्तराधिकार प्राप्त होगा।

3. वे धन्य हैं जो दयालु हैं। उन्हीं को परमेश्वर से दया प्राप्त होगी।

4. वे धन्य है जिनका हृदय शुद्ध है। उन्हीं को परमेश्वर के दर्शन होंगे।

5. वे धन्य हैं जो शान्ति स्थापित करते हैं। वही परमेश्वर के बच्चे कहलायेंगे।

6. यह मत सोचो कि मैं नियम तोड़ने आया हूँ या मैं पैगम्बरों का विरोधी हूँ, मैं तो उनके कार्यों को पूरा करने आया हूँ।

7. नियम है कि तुम "हत्या मत करो" मैं कहता हूँ कि अकारण अपने भाई पर क्रोधित न हो। कहीं तुम्हें ईश्वरीय न्याय का शिकार न होना पड़े।

8. "आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत" वाली बात मत मानो। मैं कहता हूँ--बुराई का विरोध मत करो। यदि कोई तुम्हारी दायीं गाल पर थप्पड़ मारे तो बायीं भी उसके सामने कर दो।

9. "तुम अपने पड़ौसी से प्यार और शत्रु से घृणा करो।" मैं कहता हूँ--अपने शत्रु से भी प्यार करो। जो तुम्हें गाली दे, तुम उसे आशीष (दुआ) दो। जो तुमसे घृणा करे, तुम उनका भला करो। उनके लिए प्रार्थना करो जो तुम्हें उत्पीड़ित करें ताकि उस परम पिता के प्यारे पुत्र बनो जो अच्छे या बुरे सभी पर समान रूप से सूरज चमकाता है।

10. दूसरों से वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम उनसे अपने प्रति चाहते हो।

11. जब दान दो तो दिखाकर नहीं वरन् गुप्त रूप से दो। अपने बायें हाथ को भी पता न लगने दो कि तुम्हारा दायाँ हाथ क्या करता है। परम पिता जो गुप्त रूप से तुम्हें देख रहा है, तुम्हें इसका इनाम देगा।

12. जब प्रार्थना करो, व्यर्थ के विशेषणों का प्रयोग बार-बार मत करो क्योंकि परम पिता तुम्हारे माँगने से पूर्व अच्छी तरह जानता है कि तुम्हें क्या चाहिए। केवल अपनी प्रार्थना शुद्ध हृदय से करो।

13. पृथ्वी पर खजाने मत जमा करो जहाँ दीमक व जंग उनको चाट जायेगी; परन्तु अपने के लिए स्वर्ग की सम्पत्ति एकत्रित करो जहाँ न कीड़े, न जंग उसको बर्बाद कर सकती है और जहाँ न चोर चोरी कर सकता है। जहाँ तुम्हारी सम्पत्ति होगी, वहीं तुम्हारा हृदय होगा। अत: स्वर्ग पर ध्यान केन्द्रित करो।

14. जीवन में खाने-पीने और कपड़े की चिन्ता मत करो। यदि ईश्वर के घर– 'Kingdom of God' और ईश्वर की महिमा का ध्यान करोगे तो यह सब आपने आप प्राप्त हो जायेगा।

15. दूसरों के गुनाहों को मत देखो, पहले अपने अवगुण देखो।

16. झूठे पैगम्बरों से होशियार रहो जो तुम्हारे सामने भेड़ के वेश में आते हैं और अन्दर से खूँखार भेड़िये हैं। उनकी करनी से तुम उन्हें जान पाओगे, क्योंकि जैसा दिल में सोचता है, वैसा ही मुँह बोलता है।

17. वे सब स्वर्ग के अधिकारी नहीं जो मुझे स्वामी कहकर पुकारते हैं। केवल वही स्वर्ग में जायेंगे जो परम पिता, स्वर्ग विधाता, की आज्ञा का पालन करते हैं।

यीशू प्राय: कहावतों के रूप में भी उपदेश दिया करते थे।

यीशू अपने को 'मानव पुत्र' कहता था। उसने अपने जीवन के आदर्श द्वारा मानव को संसार से निवृत्ति अपनाने की शिक्षा दी। सेंट जॉन के अनुसार, "सत्य जीवन प्राप्त करने के लिए हमें अपने अन्तर में ईश्वर को यीशू के रूप में स्थापित करना होगा।" मानव के दु:ख का कारण उसके अन्तर की कालिमा है। अपने अन्तर में आत्म ज्योति जगाओ और उसके विकास में जीवन व्यतीत करो। यीशू ने कहा, "प्रत्येक मानव के अन्दर में ज्योति है। मानव पृथ्वी पर होने वाले परिवर्तनों को देखता है और उनके परिणाम को जाँचता है परन्तु अन्तर के पापों व उनके प्रभावों को नहीं जाँचता।"

ईसाई रविवार को छुट्टी व प्रार्थना का दिन मानते हैं क्योंकि शुक्रवार को शूली पर यीशू की मृत्यु हुई थी और इसके बाद पहले रविवार को वह पुनर्जीवित हो स्वर्ग सिधार गया। इस छुट्टी से वे ईश्वर व ईश्वर पुत्र यीशू के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि इस आदर्श द्वारा उनको निष्पाप जीवन जीने का मार्ग मिला। इसी प्रकार प्रार्थना के सम्बन्ध में ईसाइयों का विचार है कि ईश्वर तथा प्राणीमात्र के प्रति उचित भाव होने से ही सच्ची प्रार्थना सम्भव है।

ईसाई धर्मानुसार प्रत्येक मर्द व औरत व्यक्तिगत रूप से पुनर्जीवित होगा और इस प्रकार सम्पूर्ण मानव जाति सामूहिक रूप से अमरत्व अथवा मुक्ति को प्राप्त होगी। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि पुन: अपने सृष्टिकर्ता परमेश्वर में लीन हो जायेगी।

प्रति रविवार को (जिस दिन यीशू पुनर्जीवित हुए) ईसाई गिरजा में प्रार्थना करते हैं। इसके द्वारा उनको उस ऋण के प्रति जागरूक किया जाता है जो उन पर परमेश्वर तथा यीशू उनके मुक्तिदाता का है, ताकि वह आध्यात्मिक जीवन जियें और पापों से मुक्त हों। उनकी सामूहिक प्रार्थना 'Eucharist' कहलाती है। इसी कारण ईसाई रविवार को पवित्र दिन मानते हैं। यहूदियों के 'पासओवर फीस्ट' (Passover Feast) की भाँति ईसाइयों का एक महत्त्वपूर्ण सामूहिक भोज 'ईस्टर' (Easter) के सात सप्ताह बाद रविवार को मनाया जाता है। इस दिन यीशू के चुने हुए विशिष्ट शिष्यों को यीशू के आध्यात्मिक दर्शन हुए थे और उनको अपने धर्म प्रचार का ज्ञान व साहस प्राप्त हुआ था। यही दिन ईसाई चर्च (संगठन) का प्रभावी प्रारम्भ माना जाता है।

ईसाई विश्वास करते हैं कि इस स्थूल जगत् के साथ-साथ एक सूक्ष्म जगत् भी है जो इससे भिन्न होते हुए भी पृथक् नहीं है। इसका अनुभव यीशू में अनन्य विश्वास से ही सम्भव है। इस अनुभव से ही ईसाई अपने को ईश्वर का बच्चा और ईश्वर को परम पिता महसूस करने लगता है। साथ ही वह यीशू के साथ अपने एकत्व के प्रति भी जागरूक हो जाता है।

यहूदी और ईसाई धर्म के संस्थापक मोजेस और जीजेस के सारभूत उपदेश उनके आन्तरिक अनुभवों पर निर्भर थे। वे उनको ईश्वरी प्रेरणा व आकाशवाणी से मिले थे। कहा जाता है कि यीशू द्वारा बताई गई आन्तरिक आध्यात्मिक विधि तथा बैठने की विधि का पालन करना अनिवार्य था। जैसा कि पुस्तक 'Fall of the Roman Empire' में एक जगह वर्णन किया गया है, "जब तुम अपने कमरे में अकेले हो, दरवाजा बन्द करके एक कोने में बैठ जाओ और अपना ध्यान सांसारिक नाशवान वस्तुओं से हटाओ। अपनी दाढ़ी व ठुड्डी को छाती पर झुकाओ। अपनी दृष्टि तथा विचार नाभि पर केन्द्रित करो और दिल में आत्मा की बैठक का स्थान खोजो। आरम्भ में सब अंधेरा व आनन्द रहित लगेगा परन्तु निरन्तर अभ्यास व कोशिश करते रहने से तुम्हें अवर्णनीय आनन्द का आभास होगा। जैसे ही तुम्हारी आत्मा को दिल का स्थान मिल जायेगा, वैसे ही आध्यात्मिक प्रकाश से भरपूर हो जायेगी।"

ईसाई धर्म का रहस्यवाद

ईसाई धर्म की रहस्यवादी प्रक्रिया जीसस की शिष्यों औरउनके अनुयायियों में सक्रिय रही जो बाद में कई रहस्यवादी ईसाई सन्तों में भी प्रकट हुई। इनमें से सेंट जॉन, सेण्ट ऑगस्टाइन, सेंट एरवार्ट, सेंट थेरेसा, सेंट जॉन ऑफ दी क्रास आदि सुप्रसिद्ध हैं। इनकी शिक्षा के अनुसार मानव शरीर ही भगवान का मन्दिर है। हम अपने शरीर के अन्दर ही उच्च चेतन मण्डल (Kingdom of God) की प्राप्ति कर सकते हैं। इन्होंने शब्द का महत्त्व भी समझा और शब्द ही को क्राइस्ट (Christ) का शाश्वत् या असली स्वरूप ठहराया जिसकी सहायता से ही मानव आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर सकता है। वह हर मनुष्य में मौजूद है, उसकी सहायता पाने के लिए हमको बाह्य कार्यवाहियों से मुँह मोड़कर संयम का जीवन व्यतीत करना चाहिए।

ईसाइयों के अनुसार रहस्यवादी जीवन की 5 अवस्थाएँ होती हैं—

1. प्रथम अब आत्मा परम पिता के प्रति जागरूक हो जाती है। यह अनुभव अकस्मात् होता है और इससे अत्यधिक आनन्द एवं उल्लास की भावना उत्पन्न होती है।

2. आत्मा परमात्मा के सुन्दर स्वरूप के प्रति चैतन्य हो जाती है तथा स्वयं को परमात्मा के समक्ष हेय, तुच्छ, अज्ञानी महसूस करती है। परमात्मा से अपने को दूर पाती है। इस दूरी को पार करने केलिए इसके संयम, तप आदि बेकार सिद्ध होते हैं। अत: यह स्थिति पीड़ा और प्रयास की होती है। इसे शुद्धिकरण की अवस्था कहा गया है।

3. बुद्धि प्रकाश, प्रदीप्ति (Illumination)—जब शुद्धिकरण के द्वारा आत्मा स्थूल बन्धनों से मुक्त हो ईश्वर से मिलने के योग्य हो जाती है, तब वह सूक्ष्म हो ऊपर उठने की आनन्दमय स्थिति में होती है। यह अवस्था चिन्तनशीलता की है। यह अवस्था पहली दोनों अवस्थाओं से मिलकर रहस्यकर की प्रथम सीढ़ी है। कई रहस्यवादी इसी सीढ़ी पर रुक जाते हैं। इसमें ईश्वर मिलन का आभास होता है परन्तु वह वास्तविक मिलन नहीं होता।

4. रहस्यवादी की पीड़ा, विरह या रहस्यमय अन्धकार की दशा, बुद्धि-प्रकाश की अवस्था में जो ईश्वर दर्शन का आभास था, उसके सत्य अनुभव की वंचना के प्रति आत्मा सचेत होती है। अब आत्मा के अहं की समाप्ति हो जाती है। 'मैं' और 'मेरा' का अन्त हो जाता है। इसे ईसाई, आत्मा का 'Crucifixion' कहते हैं क्योंकि यहाँ आत्मा अपने को ईश्वर द्वारा परित्यक्त महसूस करती है। अत: आत्मा अनन्य विश्वास के साथ अपने को ईश्वर के समक्ष कर देती है, तत्पश्चात् वह ईश्वर मिलन के योग्य हो जाती है।

5. ईश्वर से जीव का तादात्म्य (Union) ही रहस्यवादी का अन्तिम ध्येय है। यह क्षणिक हर्षातिरेक नहीं वरन् परमानन्द की शाश्वत अवस्था है। इस अवस्था को 'Spiritual Marriage' भी वर्णित किया गया है। यह अवस्था पूर्ण शान्ति एवं आनन्द की है। इसमें आत्मा अपने अस्तित्व को भूल जाती है। वह ईश्वर को एकाकार की स्थिति में होती है। यह प्रदीप्ति (Illumination) की भाँति ईश्वर दर्शन नहीं है। यह रहस्यवाद की पूर्णता है जिसे रहस्यवादियों ने देवत्व प्राप्ति, ईश्वरीय परिपक्वता या रहस्यवादी विवाह भी कहा है। यह क्षणिक 'Ecstasy' नहीं। **सेण्ट टेरेसा** (St. Teresa) के अनुसार, "इस अवस्था में आत्मा लीन हो जाने के कारण अकर्मण्य अथवा निष्क्रिय नहीं हो जाती वरन् वह और अधिक शक्ति, साहस, सरलता के साथ ईश्वर के निमित्त सेवा कार्यों में लीन हो जाती है और इन कार्यों के करने के पश्चात् पुन: ईश्वर ध्यान में मग्न हो जाती है।"

"Eckchart" के अनुसार, "परमार्थी जीवन जीने का सर्वोत्तम मार्ग यह है कि चुप रहो, ईश्वर को बोलने दो और निर्देश देने दो। जितना तुम स्थूल जगत को भूल पाओगे, उतना ही ईश्वरीय आदेश समझ पाओगे। जितना ईश्वरीय आदेश को मानोगे, उतना ही अपने को ईश्वर के निकट पाओगे।"

ईसाई धर्म में दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—

1. कैथोलिक, और 2. प्रोटैस्टैण्ट।

1. कैथोलिक परम्परागत धार्मिक रीति-रिवाज को मानते हैं और विश्वास करते हैं कि पृथ्वी पर चर्च परमेश्वर का प्रतिनिधि है और परमेश्वर सत्य को चर्च के माध्यम से ही व्यक्त करता है। अत: पोप और पुरोहितों को आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त है। सामान्यत: जिसका बपतिस्मा हुआ है, वह इसका सदस्य होता है।

2. प्रोटैस्टैण्ट विश्वास करते हैं कि मानव अपने कार्यों के लिए सीधे परमेश्वर के प्रति उत्तरदायी है। चर्च की मध्यस्थता को वह नहीं मानते। बाइबिल ही एकमात्र ईसाई विश्वास एवं आध्यात्मिक अभ्यास का स्रोत एवं निर्देशिका है। ये सुधारवादी हैं जो पादरियों के नेतृत्व में विश्वास नहीं करते। मानव किसी मानव के अधीन नहीं। उसे यीशू मसीह में अनन्य विश्वास होना चाहिए; जिसे परमेश्वर ने पृथ्वी पर मानव के संरक्षक के रूप में भेजा था।

इस धर्म ने मानव को दीनता का पाठ पढ़ाया तथा भ्रातृत्व, समानता, सहानुभूति का जीवन जीने की प्रेरणा दी। मुक्ति प्राप्त करने हेतु आन्तरिक साधन द्वारा ईश्वर से एकत्व प्राप्त करने पर बल दिया।

16

इस्लाम

बर्बरता के जमाने (Age of barbarism) में गिरे हुए अरब देशवासियों को मुहम्मद साहब की देन—एक धर्म, एक राज्य, एक राष्ट्र एवं एक संस्कृति।

इस्लाम धर्म के पैगम्बर मुहम्मद साहब का जन्म 22 अप्रैल, सन् 571 ईस्वी में हुआ। कुछ सूत्रों के अनुसार, उनका जन्म 29 अगस्त, सन् 570 ईसवी में अरब देश के प्रसिद्ध नगर मक्का में हुआ जो कि अधिक ठीक मालूम होता है। उस समय मक्का दुनियाँ के सबसे पुराने प्रसिद्ध शहरों और हजारों साल से चले आ रहे श्रेष्ठ तीर्थ स्थानों में गिना जाता था। एक हजार साल पहले यूरोप के साथ भारत एवं दूसरे एशियाई देशों का व्यापार अरब के मार्ग से ही होता था। मक्का में मुसलमानों का काबा बना हुआ है उसमें तीन सौ साठ मूर्तियाँ थीं। लगभग चार हजार पहले काबा का पुनर्निर्माण यहूदी पैगम्बर हजरत इब्राहीम और उनके साथ उनके बेटे और उत्तराधिकारी पैगम्बर हजरत इस्माईल ने मिलकर खुदा के आन्तरिक आदेश से किया था। कुर-आन के अनुसार इस्लाम धर्म, अरब देश में हजरत इब्राहीम के द्वारा ही सर्वप्रथम प्रकट हुआ। धर्म का नाम 'इस्लाम' जिसका अर्थ मालिक की मर्जी के सामने नमन और सबकी शान्ति है (Submission to the Will of God and Peace among all), हजरत इब्राहीम का ही रक्खा हुआ है। 'मुसलमान' नाम भी उन्हीं की देन है। मक्का में बहुत बाद में अरब-निवासियों ने मूर्तियाँ स्थापित की थीं। पैगम्बर मुहम्मद साहब द्वारा इस्लाम धर्म का प्रचार प्रारम्भ किये जाने के तेरह वर्ष बाद, जबकि इस्लाम-विरोधी मक्का वालों ने मुहम्मद साहब को पैगम्बर और इस्लाम धर्म को अपना धर्म स्वीकार कर लिया था, ये मूर्तियाँ हटा दी गईं। छठवीं शताब्दी में अरब देश अगणित कबीलों में बँटा हुआ था। किसी कबीले द्वारा अपने इष्ट देवी-देवता की बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा करने या अपने कबीले की महिमा का गुणानुवाद अन्य कबीलों से असहनीय होने पर तलवारें खिंच जाती थीं। ऐसी लड़ाइयाँ कभी-कभी कई-कई सालों तक चलती थीं।

अरब वालों का जीवन अर्द्ध जंगलियों सा बर्बर एवं क्रूर था। वे काफिलों को लूट लेना अपना अधिकार समझते थे। शराब इतनी पीते थे कि उससे उनकी मौत तक हो जाती थी। जुए में सब कुछ हार जाने पर स्वयं को भी दाँव पर लगा देते थे। लड़की के पैदा होने पर उसे जमीन में गाड़ देते थे। अपनी लड़की का दूसरे के साथ विवाह करने में अपनी हेठी समझते थे। वे सबसे अच्छा दामाद कब्र करे मानते थे। कबीलों की लड़ाइयों में दुश्मन के जो आदमी मारे जाते थे, उनके नाक-कान काटकर, उनके हार बनाकर, पहनकर नाचते थे। बन्दी बनायी गयी औरतों के साथ बाजारू औरतों जैसा व्यवहार करते थे। बाप के मरने के बाद बेटे, सौतेली माताओं का,

जायदाद की तरह बँटवारा करते थे। धर्म के बारे में उनके विचार अत्यन्त संकीर्ण एवं गिरे हुए थे। उनके अन्धविश्वासों की यह हद थी कि यदि खून का बदला खून से जब तक नहीं लिया गया, तब तक कत्ल किये गये आदमी की आत्मा चिड़िया बनकर "उसकूनी", "मैं प्यासी हूँ" "मैं प्यासी हूँ" चिल्लाती रहेगी। अरब वाले किसी के मर जाने पर जब उसे गाड़ते थे तो उसके पास एक ऊँटनी भी बाँध देते थे। वह भूखी प्यासी रहकर मर जाती थी। उनका विश्वास था कि ऐसा करने से मरी हुई आत्मा को (ऊँटनी की) सवारी मिलती रहेगी।

अरब में उस समय तक यहूदी धर्म में भी, जोकि उन यहूदियों के साथ आया था जिन्हें ईसाई न बनने के कारण रोम (Rome) के सम्राट टाइटस (Titus) ने देश निकाले की सजा दी थी, बड़ी गिरवट आ चुकी थी। इसलिए यहूदी धर्म का भी अरब निवासियों के सुधार के लिए कुछ अच्छा प्रभाव न पड़ सकता था। ईसाई धर्म की हालत और भी गिरी हुई थी। 'कु-स्तुन्तुनिया', 'असकन्दरिया' और 'रोम' में लाट पादरियों की आपस में लाग-डाँट के कारण ये लोग षड्यन्त्र के द्वारा बलवे करवा देते थे। रोम के सम्राट को अपनाकर विरोधी गुट के पादरियों को देश निकाले की सजा दिलवाते थे। उन्हें नापाक कहकर उनकी जीभ कटवा देते थे। ईसाई धर्म की यह हालत थी कि जो पादरियों से 'बपतिस्मे' का पानी और गण्डा-ताबीज न लेता तथा हकीम या डाक्टर से बीमारी का इलाज करवाता तो उसे कड़ी सजा दी जाती थी। ऐसी हालत में पैगम्बर हजरत मुहम्मद प्रकट हुट जिन्होंने निरन्तर कबीलों की लड़ाइयों में फँसे हुए अरब निवासियों को 'खुदा एक है, कोई दूसरा उसका शरीक नहीं है' का पाठ पढ़ाकर सबका पिता मालिक एक है (Fatherhood of God) और परमपिता मालिक के नाते सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं (Brotherhood of man) के नाते में जोड़कर विभिन्न अरब कबीलों को एक कौम (One Nation) और समस्त अरब देश को एक राज्य (One State) बना दिया और पवित्र पुस्तक 'कुर-आन' द्वारा जिसे अल्लाह ने 'फरिश्ता जिब्राइल' और घण्टे के शब्द द्वारा प्रकट की और जिसमें पैदा होने से लेकर कब्र में गाड़े जाने तक अर्थात् मनुष्य के समस्त जीवन के लिए पूर्ण (Code of conduct) आचरण संहिता है और जिसका निचोड़ है कि नेकी करो और बुराई से बचो, ऐसा एक धर्म (One Religion) और एक संस्कृति (One Culture) की शिक्षा प्रदान की।

मुहम्मद साहब का जन्म, उनका घराना तथा जीवन के पच्चीस वर्ष

मुहम्मद साहब अरब के सबसे अधिक सम्मानित श्रेष्ठ कुरेश कबीले के हाशिमी घराने में सन् 570 ई. में पैदा हुए थे। यह घराना, मुहम्मद साहब के परदादा हाशिम के नाम पर जो कबीले के सरदार एवं काबा के हाकिम भी थे, 'हाशिमी' कहलाया। उनके मरने के बाद उनके भाई मुत्तलिव गद्दी पर बैठे। फिर हाशिम के बेटे अब्दुल मुत्तल्लिव। अब्दुल मुत्तल्लिव के सबसे छोटे बेटे अब्दुला की पच्चीस साल की उम्र में मृत्यु हो जाने के कुछ महीनों के बाद मुहम्मद साहब अपनी माँ आमिना के गर्भ से पैदा हुए। बीमार और दु:खी माँ ने उन्हें सात दिन दूध पिलाया और फिर उनके चाचा अबूलहब की बाँदी ने उन्हें दूध पिलाया। उसके पश्चात् साद कबीले की हलीमा नाम की एक औरत ने पाँच वर्ष तक अपने गाँव ले जाकर उनका पालन-पोषण किया। बारह वर्ष तक मुहम्मद साहब अपने ताया अबू तालिब की बकरियाँ चराते थे। बारह वर्ष की उम्र में वे उनके साथ व्यापार के सम्बन्ध में मुल्क 'शाम' (Syria) गये।

खदीजा एक बड़ी खूबसूरत और नेक स्वभाव की बड़ी अमीर विधवा थीं। अबू तालिब ने मुहम्मद को खदीजा का एजेण्ट बनवा दिया। वे इतने अच्छे और ईमानदार थे कि लोग उन्हें

'अल अमीन' (Trust-worthy) के उपनाम से पुकारते थे। मुहम्मद साहब काबिल, नर्मदिल, शर्मीले, शान्त स्वभाव एवं अति आकर्षक व्यक्तित्व वाले थे। खदीजा को उनसे और उन्हें खदीजा से प्रेम हो गया और खदीजा से मुहम्मद साहब की शादी हो गई। उस समय मुहम्मद साहब की उम्र पच्चीस वर्ष और खदीजा की उम्र चालीस वर्ष थी। यह खदीजा की तीसरी शादी थी। इसी के साथ मुहम्मद साहब के दिन फिरे।

मुहम्मद साहब पर नुजूले-पैगम्बरी (Prophethood descends on Mohammad)

हजरत मुहम्मद हर साल रमजान के महीने में हिरा की गुफा में साधना करते थे। होते-होते साल के सभी महीने रमजान बन गये। पन्द्रह साल के योग-अभ्यास के बाद जब वह चालीस वर्ष के हुए तो उन पैगम्बरी के आसार (Signs of Prophethood) प्रकट हुए। पहले पहले जो घटना घटित हुई, वह यह थी कि एक रात रमजान के महीने में हिरा की गुफा में उन्हें आवाज सुनाई दी–"जा उठ और अपने रब का सन्देश दुनियाँ वालों तक पहुँचा।" मुहम्मद साहब इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। कुछ समय बाद उन्होंने फिर सुना "ऐलान कर (Proclaim)।" हजरत मुहम्मद ने कहा "क्या ऐलान करूँ ?" इस पर किसी ने उनके दिल को उस हद तक निचोड़ा कि जितना वह सह सकते थे। फिर दोबारा वही आवाज आयी और मुहम्मद साहब ने पूछा, क्या ऐलान करूँ ? फरिश्ते (Angel) ने फिर उनके दिल को निचोड़ा जितना कि वह सह सकते थे। तीसरी बार फिर वही हुआ। इसके बाद जवाब मिला, "ऐलान कर उस रब का जिसने प्रेम से 'प्रेम का पुतला' इन्सान बनाया। ऐलान कर कि तेरा 'रब' अर्थात् 'मालिक' बड़ा दयालु है उसने इन्सान को वह सब सिखाया जो कि वह नहीं जानता था।" ये इस्लाम धर्म की पुस्तक "कुरआन" की पाँच आयतें हैं जिनका मुहम्मद साहब को सबसे पहले इलहाम (Revelation) हुआ। यही उनके पैगम्बर होने का श्रीगणेश है। जब मुहम्मद साहब को तसल्ली नहीं हुई तो छः महीने बाद फिर आवाज आई, "ऐ चादर में लिपटे हुए उठ और लोगों को आगाह कर दे और अपने रब (अल्लाह) की बढ़ाई कर। अपने कपड़े को साफ कर। प्राणीमात्र की सेवा करने का किसी पर अहसान मत जता और रब के लिए सब्र से काम ले।"

मुहम्मद साहब के मिशन का आरम्भ : मुसीबतों के तेरह साल

आस्मानी आवाज सुनने पर मुहम्मद साहब को अपने मिशन का पूरा विश्वास हो गया। उन्होंने अपने अल्लाह पर अडिग विश्वास रखकर अपना समस्त जीवन अपने धर्म के प्रचार में लगा दिया। उन्हें तेरह वर्ष बड़ी विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। मक्का वाले मूर्ति-पूजा करते थे और यात्रियों से बड़ी मात्रा में धन कमाते थे। मुहम्मद साहब के इस्लाम की शिक्षा, उनके धर्म और आमदनी पर, सीधी चोट थी। इसलिए जब मुहम्मद साहब उपदेश देने खड़े होते तो उनका मजाक उड़ाया जाता, उन पर पत्थर और ढेले बरसाये जाते। मक्का वाले उन्हें पागल बताने लगे और उनके जानी दुश्मन हो गये। वे मक्का छोड़कर तायफ के नगर में गये। यह नगर भी मूर्ति-पूजा का गढ़ था। मुहम्मद साहब जब वहाँ इस्लाम का उपदेश देने खड़े हुए तो लोगों ने उन्हें पत्थर मार-मार कर घायल कर दिया और कई मील तक उनका पीछा किया। इस समय जैद उनके साथ था।

देवताओं और मूर्तियों की पूजा छोड़कर केवल एक ईश्वर को मानना, ऊँच-नीच और कबीलों का भेद छोड़कर सब को उसी एक परमपिता के बच्चे मानना, मनुष्यों को भाई-भाई मानना, चरित्रहीनता (Fornication), लड़कियों की हत्या, शराबखोरी, गुलामों के साथ निर्दयता जैसे बुरे कर्मों का त्याग, झूठी गवाही न देना, नाप-तोल में बेईमानी न करना, यतीमों के साथ दया और नेकी का व्यवहार, मुहताजों को दान देना, नेकी करना, बुराई से बचना, नमाज पढ़ना—यही मुहम्मद साहब के सारे उपदेशों का सार था। मुहम्मद साहब के धर्म के मानने वालों को, जिनमें प्रारम्भ में अधिकतर गुलाम थे, कठोर यातनाएँ दी जाती थीं, जैसे—जलती रेत पर लिटा देना, बरछियाँ भोंक-भोंक कर मार डालना, बदल के टुकड़े-टुकड़े कर डालना इत्यादि। इन अत्याचारों से बचने के लिए बहुत-से मुसलमान, मुहम्मद साहब की सलाह से मक्का छोड़कर ईसाई राजा नजाशी (Negus) के देश इथोपिया चले गये।

मुहम्मद साहब को इस्लाम का उपदेश करते हुए जब सातवें वर्ष का दसवाँ महीना था, तब मुहम्मद साहब और उनके कुनबे वालों का मक्का के कुरैश ने बहिष्कार कर दिया। मक्का की गलियों में मुहम्मद साहब की जान खतरे में देखकर उनके चाचा अबू तालिब सब कुनबे वालों को लेकर शेब की तंग घाटी में जा बसे, जहाँ मुहम्मद साहब पर आसानी से हमला न हो सके। काबा की यात्रा के महीनों में अरब में आपसी झगड़े बन्द रहते थे। उन्हीं दिनों में घाटी से बाहर आकर कुनबे वाले खाने-पीने का सामान एकत्रित कर लेते थे। कभी-कभी पेड़ों की पत्तियाँ खाने की नौबत आ जाती थी। हिशाम जैसे भले आदमी ने जुहैर-बिन-उम्मय्या के सहयोग से मुहम्मद साहब के कुनबे का बहिष्कार समाप्त कराया। लगभग तीन साल तक पूरा कुनबा शेब की तंग घाटी में बन्द रहा। इस घाटी को अबू तालिब का शेब कहते हैं।

हिजरत अर्थात् मुहम्मद साहब का जान बचाने के लिए मक्का से भागकर यसरब (मदीना) जाना

एक दिन मक्का से कुछ उत्तर में अकबा की पहाड़ी पर मुहम्मद साहब इस्लाम का उपदेश दे रहे थे। यसरब, जिसका नाम बाद में मदीना पड़ गया, के छः लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और मदीना पहुँचकर इस धर्म की चर्चा की। अगले वर्ष उनके अन्य 6 साथी अकबा आये और मुसलमान हो गये। उन्होंने लिखकर यह वचन दिया कि हम लोग एक ईश्वर के सिवा किसी दूसरे देवी-देवता को न पूजेंगे, न चोरी करेंगे, न बदचलनी करेंगे, न बेटियों की हत्या करेंगे, न किसी पर झूठे दोष की गवाही देंगे, न पैगम्बर का हुक्म तोड़ेंगे और सुख-दुःख में पैगम्बर का पूरा साथ देंगे। इसे इस्लामी इतिहास में अकबा का पहला वायदा कहते हैं। मुहम्मद साहब ने धर्म प्रचार के लिए मुसअब को मदीना भेजा। कुलका कुलबनू-अब्दुल-अशाल, मुसलमान हो गया। इसके फलस्वरूप अगले वर्ष मदीना वालों ने 75 आदमियों को नियुक्त किया कि वे मुहम्मद साहब से मिलें और उनको मदीना आने के लिए राजी करें। ऐसा ही किया गया। अकबा की पहाड़ियों पर मुहम्मद साहब से बातचीत हुई। मुहम्मद साहब ने पूछा कि "क्या तुम प्रतिज्ञा करते हो कि तुम मुझे ऐसे ही बचाओगे जैसे कि अपने बच्चों और औरतों को ? और कहा कि इसके फलस्वरूप तुम्हें जन्नत मिलेगी। तो जवाब में अकबा के पहले वादे में यह और जोड़ दिया गया कि "हम यसरब में पैगम्बर और उनके साथियों की रक्षा वैसे ही करेंगे जैसे अपनी और अपनी औरतों और बच्चों की करते हैं।" यह अकबा का दूसरा वायदा कहलाता है।

मुहम्मद साहब ने खुद मक्का छोड़ने से पहले मुसलमानों को मदीना चले जाने की सलाह दी। एक-एक, दो-दो करके मुसलमान मदीना चले गये। मक्का वालों ने किसी को अपने साथ

कुछ नहीं ले जाने दिया और कुछ को बहुत अधिक कष्ट दिये। यहाँ तक कि उनके बीबी-बच्चों को भी छीन लिया। मक्का में केवल मुहम्मद साहब, अबूबक्र, अली, कुनबों की औरतें और बच्चे तथा कुछ बूढ़े लोगों को छोड़कर सब मुसलमानों को मुहम्मद साहब ने मदीना भेज दिया। कुरैश भाँप गये और उन्होंने सोचा कि मदीना में जाकर मुहम्मद साहब का बल और अधिक बढ़ जाने पर मक्का के लिए भय पैदा हो जायेगा। इसलिए उन्होंने तय किया कि हर कबीला अपना सबसे मजबूत जवान चुने और जब मुहम्मद साहब उठें, तब ये जवान उन पर टूट पड़ें। वे अपना-अपना खंजर भोंक दें और उन्हें मार डालें, ताकि हाशिमी घराने वाले इतने कबीलों से बदला लेने की हिम्मत न कर सकें। मुहम्मद साहब को पता चल गया। उन्होंने अपने बिस्तर पर हजरत अली को जो उनके चचेरे भाई और दामाद थे, लिटा दिया और रातों रात अबूबक्र के साथ छुपते-छुपाते छः दिन के बाद रबी-अल-अव्वल को आठ यसरब पहुँच गये जो इस दिन के बाद मदीनतुल-नबी (नबी का शहर) या केवल मदीना कहा जाने लगा। इसी दिन से इस्लामी वर्ष (हिज्री सन्) गिना जाता है।

मुहम्मद साहब मदीना में सरकार की हैसियत से

मदीना में सबसे बड़े कबीले बनू औस और बनू-खजरत थे। दोनों में 120 वर्ष से विरोध चला आ रहा था। इसलिए मुहम्मद साहब के पहुँचने पर सब नगर निवासियों ने मुहम्मद साहब को मदीना वालों का सरदार चुन लिया। मदीना में मुहम्मद साहब और इस्लाम दोनों फले-फूले। मदीना का हाकिम चुने जाने पर मुहम्मद साहब ने मदीना वालों के लिए उनके हक़ और फ़र्ज का ऐलान The Charter of Madina द्वारा किया कि मदीना के सभी रहने वाले, चाहे वे मुसलमान हों या किसी नस्ल और धर्म के, जो मिलकर रहने को तैयार हैं, सब एक मिली संगठित उम्मत अर्थात् कौम होंगे। किसी बाहर वाले से मित्रता होगी तो सबसे या लड़ाई होगी तो सबसे। सबको अपने-अपने धर्म-पालन की पूरी स्वतन्त्रता होगी। सभी धर्मों के पैगम्बर एक ही अल्लाह के भेजे हुए हैं।

इसी तरह मुहम्मद साहब ने सेण्ट कैथेराइन के ईसाई मठ के महन्तों और अरब के अन्य सब ईसाइयों के लिए ऐलान निकाला जिसमें कहा कि सब पैगम्बर उसी अल्लाह के पैगम्बर हैं। उन्होंने कहा कि जो मुसलमान इस वायदे को जो इस ऐलान में दर्ज है, तोड़ने की हिम्मत करेगा वह अपने ईमान को तोड़ने का पाप करेगा। "जब कभी कोई ईसाई महन्त यात्रा करते हुए मदीना राज्य के अन्दर किसी पहाड़, बस्ती, गाँव, समुद्र, रेगिस्तान, मठ या गिरजे में ठहरेगा तो उसकी, उसके माल-असबाब की, अपने जी-जान से हिफ़ाजत के लिए मैं खुद अपने ही धर्म के सभी मानने वालों के सहित उसके साथ मौजूद रहूँगा। ये लोग हमारी ही उम्मत (कौम) का एक अंग हैं और इनसे हमारी इज्जत है। मुहम्मद साहब ने मदीना के राजा की हैसियत से अलग-अलग लोगों के साथ किसी तरह का भेद-भाव नहीं किया। कुरआन में आयत है 'ला इकराह फ़िद्दीन' अर्थात् धर्म के मामले में जबरदस्ती नहीं।

मदीना में मुहम्मद साहब की हैसियत राजा जैसी हो गयी। मुसलमानों की संख्या भी तेजी से बढ़ने लगी। कुरैश अब भयभीत हो गये कि अगर मुहम्मद साहब का जोर बढ़ने दिया गया तो मक्का में मूर्ति पूजा को बड़ी चोट पहुँचेगी। पता लगा कि कुरैश 1,700 ऊँटों और सौ घोड़ों के साथ हमला करने आ रहे हैं, तब उन्होंने रोजे (उपवास) रखकर हिदायत माँगी। अल्लाह से जो

इजाज़त मिली, उसका ख़ुलासा यह है कि जिनसे लोग लड़ने के लिए आते हैं, उन्हें भी लड़ने की इजाज़त दी जाती है। अल्लाह की राह में उन लोगों से लड़ो जो तुम्हारे साथ लड़ें लेकिन हद से कभी न बढ़ो। अल्लाह हद से बढ़ने वालों से कभी प्रेम नहीं करता और जो लड़ने वाले लड़ना बन्द कर दें तो तुम सिवाय उन लोगों के जो जुल्म करते हैं, और किसी के साथ दुश्मनी न रक्खो। मुहम्मद साहब को तसल्ली न हुई। अल्लाह की ओर फिर वही हिदायत हुई—"क्या तुम उन लोगों से न लड़ोगे जिन्होंने खुद लड़ाई आरम्भ की ? तुम्हें क्या हो गया है कि तुम अल्लाह की राह में निर्बलों, औरतों और बच्चों के लिए भी नहीं लड़ते ?" मुहम्मद साहब 313 आदमियों को लेकर मदीना से निकलकर आते हुए दुश्मन की फौज का सामना करने के लिए चल पड़े। इस तरह सन् 624 ई. में बद्र की घाटी में घमासान लड़ाई हुई। कुरैश को मैदान छोड़कर भागना पड़ा। मुहम्मद साहब और मदीना वालों ने युद्ध के कैदियों के साथ बड़ी उदारता और सभ्यता का व्यवहार किया। मुहम्मद साहब ने चाहा कि मक्का वालों से सुलह हो जाये किन्तु उनका प्रयास विफल रहा। अगले वर्ष ही कुरैश सरदार अबू सूफियान ने जो उमय्या घराने का था, एक हजार आदमी लेकर मदीना पर फिर हमला कर दिया। उहुद के मैदान में लड़ाई हुई। अबूबक्र, उमर और अली तीनों बुरी तरह घायल हुए। मुहम्मद साहब के भी तीर लगा। उनका होंठ कट गया और आगे का एक दाँत टूट गया। इस लड़ाई में कुरैश का पलड़ा भारी रहा लेकिन वे इतने थक गये कि उन्हें लूट-मार करके ही लौट जाना पड़ा। जो मुसलमान कुरैश के हाथ पड़े, उन्हें बहुत यातनाएँ दी गईं। इस सिलसिले में आयत नाजिल हुई कि "मुसलमानों ! अगर तुम बदला लो तो उतना ही जितना कि तुम्हें नुकसान पहुँचाया गया है। लेकिन अगर तुम सब्र के साथ सह लो तो सहने वाले के लिए बहुत अच्छा है। इसलिए तुम सब्र के साथ सह लो।"

कुरैश ने मदीना के बाहर दूसरे बड़े-बड़े क़बीलों को मुहम्मद साहब के विरुद्ध भड़काया। मार्च 626 ई. में कुरैश ने मदीना पर अन्तिम आक्रमण किया जो खंदक की लड़ाई के नाम से प्रसिद्ध है। अबू सूफियान बनी गलफान तथा अन्य क़बीलों के दस हजार सशस्त्र व्यक्तियों को लेकर, जिनमें यहूदी भी थे, मदीना पर आक्रमण करने के लिए बढ़े। यह सूचना मिलते ही कि दुश्मन रास्ते में हैं, मुहम्मद साहब ने बचाव के लिए चहादीवारी के बाहर एक गहरी खाई खोदना प्रारम्भ किया लेकिन शत्रु खाई पूरी होने से पहले ही आ टूटा। पत्थरों और तीरों की बौछारों से 20 दिन तक युद्ध चला। मौसम की ठण्ड, वर्षा और रसद की कमी के कारण दुश्मन को विवश होकर लौट जाना पड़ा।

खंदक की लड़ाई की जीत के बाद मुहम्मद साहब का प्रभाव बढ़ता चला गया। क़बीले के बाद क़बीले इस्लाम धर्म स्वीकार करते चले गये। मुहम्मद साहब प्रेम और नम्रता के साथ लोगों को अपने धर्म की बातें समझाते थे। अतः लोग इस्लाम की ओर खिंचते चले गये। मुहम्मद साहब मदीना के बाहर अपने उपदेशक भेजने लगे। मुहम्मद साहब ने उपदेशकों को यह आदेश देकर मदीना से बाहर भेजा कि सबसे प्रेम शान्ति और नम्रता का बर्ताव रखना, सबको खुश रखना, किसी के हृदय में अपने प्रति घृणा भाव न पनपने देना। याद रखना कि जिस आदमी के प्रति अत्याचार और अन्याय किया जाता है, उसकी आह और मालिक के बीच कोई पर्दा नहीं है। मज़लूम की आह से डरना। उनको समझाना कि एक खुदा ही सबका ईश्वर है, उसी की सबको पूजा करनी चाहिए। उन्हें दान का महत्त्व समझाना। उन्हें बताना कि जमीन और आसमान से बढ़कर जन्नत उन लोगों के लिए है जो बुराई से बचते हैं, जो गरीबी तथा अमीरी में खूब दान देते

हैं। अल्लाह उन्हीं को प्यार करता है जो दूसरे की मदद करते हैं। उन्हें समझाना कि अगर तुम चाहते हो कि खुदा तुम को मुआफ कर दे तो तुम दूसरों को मुआफ कर दो और उन्हें भूल जाओ। अल्लाह मुआफ करने वाला और दयावान है।

मक्का की दूसरी यात्रा—मुहम्मद साहब 'हज' के महीने में, जबकि लड़ाई-झगड़े बन्द रहते थे, एक बड़ी संख्या में निहत्थे मुसलमानों को साथ लेकर 'हज' के लिए रवाना हुए और आदमी भेजकर कुरैश से 'हज' की इजाज़त माँगी। कुरैश ने मना कर दिया और सशस्त्र सैनिक मुसलमानों का रास्ता रोकने के लिए खड़े कर दिये। 80 कुरैशों के दल ने उन पर हमला कर दिया। मुसलमानों ने उनको जिन्दा पकड़ लिया। मुहम्मद साहब ने उन्हें इस वादे पर छोड़ दिया कि वे भविष्य में ऐसा नहीं करेंगे। कुरैश पर इसका प्रभाव पड़ा और एक सन्धि हो गयी जो 'हुदैबिया की सुलह' कहलाती है। इस सुलह की शर्तों के अनुसार इस बार मुहम्मद साहब और उनके साथी बिना 'हज' किये मदीना लौट आये और अगले साल दो हजार मुसलमानों को लेकर 'हज' के लिये गये। सुलह के अनुसार मक्का वालों ने तीन दिन के लिए मक्का खाली कर दिया और मदीना वाले तीन दिन तक और 'हज' करके लौट आये। उन्होंने कोई भी ऐसा कार्य नहीं किया जिससे मक्का वालों की मूर्ति पूजा का अपमान हो।

मक्का का मुसलमान होना—कुछ कुरैशों ने 'हुदैबिया की सुलह' की एक शर्त का उल्लंघन किया और खजाआ क़बीले पर जो कि मदीना सरकार की प्रजा थी, आक्रमण कर दिया। मुहम्मद साहब ने इस बार फौजियों को हिदायत दी कि किसी पर हथियार न उठावें। यदि कोई शत्रु मिले तो उसे पकड़कर ले आवें।

थोड़ी देर बाद पहले वाले सिपाही दो आदमियों को पकड़कर मुहम्मद साहब के पास लाए। उनमें से एक मुहम्मद साहब का जानी दुश्मन मशहूर कुरैश सरदार अबू सूफियाना था। उसे अपने सामने देखकर मुहम्मद साहब की आँखें आँसुओं से भर आईं। मुहम्मद साहब ने उसे बड़े आदर-सत्कार के साथ बैठाया और उसके सब अपराध क्षमा कर दिये। अबू सूफियाना ने मक्का वालों को सन्देश भेजा और मुट्ठी भर लोगों को छोड़कर सभी मक्का वाले मुसलमान हो गये। उन्होंने मदीना की सरकार को कौमी सरकार मान लिया।

रोम के अधीन अम्मान का हाकिम फरावह एक ईसाई अरब था। उसे मुहम्मद साहब का इस्लाम धर्म पसन्द आ गया और वह मुसलमान हो गया। उसे लालच देकर फिर ईसाई बनाने की कोशिश की गयी। उसके न मानने पर उसे मौत की सजा दे दी गई। रोम (Rome) में आबाद अरबों में इस्लाम के प्रचार के लिए जो निहत्थे दस्ते भेजे जाते थे, उनमें इक्के-दुक्के व्यक्ति जिन्दा लौटते थे। मुहम्मद साहब ने लिखित शिकायत ईसाई गर्वनर को भेजी। मुअत्तज के ईसाई हाकिम ने सन्देशवाहक को रास्ते में ही मरवा डाला। मुहम्मद साहब ने तीन हजार सशस्त्र सैनिकों की फौज मुअत्तज की ओर भेजी। रोम के सम्राट की फौज से घमासान लड़ाई हुई। जीत मुसलमानों की हुई। उत्तर के अरब निवासी इस्लाम अपनाने लगे और उत्तरी सूबे रोम के राज्य से छूट कर मदीना की प्रजा हो गये।

मक्का की अन्तिम यात्रा : अर्फात की चोटी से उपदेश—सन् 632 ई. में मुहम्मद साहब ने अपनी जन्मभूमि मक्का की अन्तिम यात्रा की। वह तब 62 वर्ष के हो गये थे। इस बार एक लाख चालीस हजार आदमी इनके साथ थे। मक्का में हज की सभी रस्में पूरी करने के बाद

अर्फात की पहाड़ी पर बैठकर मुहम्मद साहब ने भरे हुए दिल से सब लोगों को आखिरी बार नेक कामों के लिए उपदेश दिया।

मुहम्मद साहब का अन्त—सोमवार 12 रबी-अल अव्वल11 हिजरी को जो ईसवी सन् के अनुसार सोमवार 8 जून, 632 ई. में होता है, मुहम्मद साहब बीमारी के बिस्तर से उठकर, दो आदमियों का सहारा लेकर नमाज़ में शरीक हुए। नमाज़ अबू बक्र पढ़ा रहे थे। मुहम्मद साहब ने दोपहर के बाद आएशा की झोंपड़ी में लेटे हुए चोला छोड़ दिया। अन्तिम समय उनकी जबान पर ये शब्द थे, "अल्लाह मुझे मुआफ़ कर। उस दुनियाँ के मुबारक साथियों के साथ हमेशा के लिए स्वर्ग।" मुहम्मद साहब अत्यन्त गरीबी का सादा जीवन व्यतीत करते थे। चोला छोड़ने से एक दिन पहले उन्होंने आएशा से कहा था कि जो कुछ उनके पास हो या जो उन्होंने बचाकर रक्खा हो, उसे गरीबों में बाँट दे। आएशा के पास 6 दीनार निकले। मुहम्मद साहब ने उनको मुहताजों में बँटवा दिया। मुहम्मद साहब ने अपनी थोड़ी-सी जमीन, एक खच्चर और अपने हथियार भी मुहताजों को दान दे दिये। इस प्रकार वे 'बेदाम-ओ-दिरम (Penniless) दुनियाँ' से गये।

इस्लाम धर्म की शिक्षा

इस्लाम धर्म के अनुसार एक ही खुदा की सन्तान होने के कारण सब बराबर हैं। न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। खुदा की इस एकता को 'तौहीद' कहते हैं। खुदा ने दुनिया के हर मुल्क में और हर काल में लोगों को उन्हीं की भाषा में समझाने के लिए पैगम्बर भेजे। मुहम्मद साहब के अनुसार अरब वालों के लिए हज़रत इब्राहीम को लगभग चार हजार साल पहले भेजा। इस्लाम धर्म उन्हीं के द्वारा दिया गया। ईसाई धर्म और मुहम्मद साहब द्वारा इस्लाम उसी का सिलसिला (Continuation) है। कुर-आन का उपदेश है सब पैगम्बरों पर ईमान रखना ओर पैगम्बरों में भेद न करना।

मनुष्य का यह जन्म पहला और अन्तिम माना गया है। मुरदा दफन करने के पश्चात् रूह कयामत (Day of Judgement) की प्रतीक्षा करती है। जब पुण्य या पाप कर्मों का न्याय हो जाता है, तब वह रूह सर्वदा के लिए जन्नत या दोज़ख (नर्क) में चली जाती है।

कुर-आन को अल्लाह की पुस्तक माना गया है। इसके अध्यायों में वे सभी संदेश संकलित हैं जो खुदा ने मुहम्मद साहब के मुख से उनकी ध्यान-मग्न अवस्था में मक्का और मदीना में निकलवाये। इसकी भाषा अरबी है।

1. **कलमा पढ़ना**—'ला इलाह-इलललाह, मुहम्मदु-र्रसूल-अल्लाह'—खुदा एक ही है, उसके कोई समान नहीं है। मुहम्मद उसका रसूल यानी संदेशवाहक है। यह इस्लाम का मूल मन्त्र है। इसका जाप करना चाहिए।
2. **नमाज-ए-पंजगाना**—दिन में पाँच बार मक्का की ओर मुख करके प्रार्थना करना।
3. **रोजे रखना**—रमजान के महीने में 30 दिनों का उपहास। इसमें सूर्य के उदय से अस्त होने तक निर्जल और निराहार रहने का विधान है।
4. **ज़कात**—आय का ढाई प्रतिशत दीनों व असहायों की मदद के लिए खर्च करना।
5. **हज़**—यदि आर्थिक स्थिति ठीक हो तो जीवन में एक बार मक्का और मदीना के तीर्थों की यात्रा अवश्य करनी चाहिए।

मुसलमानों में फ़िक्रे (Sects)—मुसलमानों में मुख्य दो फ़िक्रे 'शिया' और 'सुन्नी' हैं। 'सुन्नी' मुहम्मद साहब के बाद पहले चार खलीफों को जो खुलफ़ाए रशीद कहलाते हैं, (The Great Caliphs) उनको खलीफा मानते हैं और उनकी इज्जत करते हैं क्योंकि वे 'सहाबा' (Companions of the prophet) थे। मगर शीआ पहले तीन, हज़रत अब बक्र, हज़रत उमर और हज़रत उसमान को 'ग़ासिब' (Usurper) कहते हैं और उन पर 'तबर्रा' (लानत) भेजते हैं। मुहर्रम में जब सुन्नी मदह सहाबा (Praise of the companions of the prophet Abu Bakr, Omar & Usman) पढ़ते हैं और शीआ तबर्रा, तो नौबत कुश्त-ओ-खून तक आ जाती है। शीओं का इस्लाम फिर्का, हज़रत इस्माइल को, जो हज़रत इब्राहीम के बेटे थे और पैगम्बर भी मानने वाला यह फिर्का इमामों की परम्परा में और एक पोशीदा इमाम (Hidden Immam) में विश्वास रखता है कि वह अब भी मौजूद हैं और छिपे हुए हैं और उस समय प्रकट होंगे जब उनके लिए मुसलमानों के सब्र का प्याला भर जायेगा और वे सच्चे धार्मिक हो जायेंगे। शीआ इमाम को केवल धार्मिक पुरुष ही नहीं बल्कि (Infallible) यानी, बेऐब और सम्पूर्ण, खुदा का भेजा हुआ, मानते हैं। आग़ाखाँ को मानने वालों का भी एक फिर्का बना हुआ है।

क़ादिरी फ़िर्का—यह सूफियों के मत वालों का है जो शाहमीर कुद्स-सिर्रहू जीलानी का चलाया हुआ है।

अहमदिया फ़िर्का—इसमें मिर्जा गुलाम अहमद (देहली वाले) के मानने वाले हैं जो उनको अवतार मानते हैं।

क़ादिरी मुसलमान कुरआन में 'खातम-उल-नबीऐन' पढ़ते हैं जिसका मतलब है Seal of the prophet और दूसरे मुसलमान 'खातिम' पढ़ते हैं जिससे मतलब हो जाता है The Last of the prophet। सर जफ़रउल्ला जो पाकिस्तान के विदेश मन्त्री थे, वह कादियानी थे। पाकिस्तान में अब ये सब गैर-मुस्लिम (None-Muslim) घोषित कर दिये गये हैं।

●

17

सूफ़ीमत

सूफ़ी शब्द के विभिन्न अर्थ—विभिन्न विद्वानों ने मुसलमान फकीरों के मत के लिए "तसव्वुफ" और उस पर चलने वालों के लिए "सूफ़ी" शब्द के प्रयोग के विभिन्न कारण दिये हैं। तसव्वुफ (सूफिज्म) का अर्थ सूफ (भेड़ों की ऊन से तैयार किया हुआ कपड़ा) के पहनने से है। उस समय यह एक मोटा सादा कपड़ा समझा जाता था और त्यागी लोग जो सादा व दीनता का जीवन व्यतीत करते थे, इस कपड़े को पहनते थे, जिस तरह कि भारतवर्ष में खद्दर देश-भक्ति का चिह्न माना जाता है।

कुछ विद्वान कहते हैं कि "तसव्वुफ" शब्द "सूफ" से निकला है—जिसका अर्थ एकाग्रचित होना और रुख फेर लेना है। मालिक से केवल मालिक को माँगने वाले अर्थात् तालिबाने मौला सिवाय मालिक के हर चीज से मुँह मोड़ लेते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि सूफी मत "सुफ्फा" से निकला है। सुफ्फा इस्लाम के पूर्व अर्धबर्बरता (Age of Semi Barbarism) के युग में क़बीला बनीनस्त्र के बुजुर्गों का एक समूह था जो प्राणीमात्र की सेवा केवल खुदा की प्रसन्नता के लिए करता था।

कुछ लोगों का मत है कि सूफ़ी शब्द का सम्बन्ध "असहाबे सुफ्फा" से अर्थात् उन चुने हुए लोगों से है जो पैगम्बर की मस्जिद जिसकी छत खजूर के पत्तों की थी, के सामने बने चबूतरे पर पैगम्बर साहब के सामने बैठते थे और उनके दर्शन से अन्तरी लाभ 'फैज़' प्राप्त करते थे। उस समय इन चुने हुए लोगों को 'सूफ़ी' न कहकर "सहाबा" कहा जाता था जिसका अर्थ है पैगम्बर के साथी (Companions of the Prophet)।

हज़रत सुहेल अब्दुल्ला का कथन है—"तसव्वुफ" यह है कि हर हाल में खुदा के इश्क में डूबा रहे।

हज़रत जुनैद से पहले के सूफ़ी फकीरों ने हठधर्मी मुल्लाओं, पादरियों व पण्डितों के झगड़े से बचने के लिए प्रतीक (Symbolism) की भाषा का प्रयोग किया। हज़रत जुनैद ने पहली बार प्रतीक की भाषा की व्याख्या की और खुलकर वचन कहे। उनका कथन है कि 'तसव्वुफ यह है कि अल्लाहतआला' (God who is great) मुरीद को उसकी खुदी से मुर्दा और अपनी खुदी (Self) से जिन्दा कर दे।

तसव्वुफ का आधार तीन बातों पर है—(1) फकीरी धारण करना, (2) अख्तयार (Self will) का त्याग, और (3) निःस्वार्थ सेवा कर्म, जिससे मालिक की प्रसन्नता हो। हज़रत अबुल

हसन अहमद बिन शुअरी (Ob. 260 A.H.) का कथन है कि सूफ़ीमत न 'उलूम' (वाचक ज्ञान) है और न 'रूसम' (यानि पूजा-पाठ की रस्में) अगर 'उलूम' होता तो पढ़ने पढ़ाने से प्राप्त हो जाता और यदि रूसूम होता तो 'मुजाहिदों और रियाजतों' (पूजा-पाठ व तपस्या) से काम चल जाता। तसव्वुफ का अर्थ अपने अन्दर असलाके-इलाही (Attributed of God) यानि 'मालिक के गुण जगाना है।' हज़रत रहीम बगदादी के अनुसार "तसव्वुफ यह है कि दिल राजी व रजा यानि मालिक की मर्जी पर रहना।"

'सूफ़ी' शब्द का प्रयोग सबसे पहले सूफ़ी फकीर अबूहाशिम (Ob. 150 A.H.) के लिए किया गया। मालिक से प्रेम और मालिक पर ही भरोसा, इसमें उनसे बढ़कर कोई न था। वे कहते हैं कि सुई से पहाड़ खोदना अहंकार, आपा और मानरस मिटा देने से आसान है। मालिक के दर्शन मालिक की मारफ़त अर्थात् तद्रूपता से प्राप्त होते हैं।

मुहम्मद साहब के जन्म लेने के समय भी अरब देश में मूर्ति पूजा के साथ-साथ कुछ लोग एक मालिक में विश्वास करते थे। ऐसे लोग जिन्हें सत्य की खोज थी, जिनके दिलों में मालिक से मिलने की तृष्णा और मालिक के प्रेम की चिनगारी दबी आग की तरह सुलग रही थी, वे धर्म की रस्मों और बाहरी पूजा-पाठ करने से तृप्त नहीं हो सकते थे, अत: वह चिनगारी ज्वाला की तरह प्रज्वलित हो उठी। वे सूफ़ी फकीरों की शरण लेकर सूफ़ी धर्म का पालन करने लगे।

पीर या मुर्शिद अर्थात् गुरु को गति—सूफ़ीमत में पीर या मुर्शिद वह है जो मालिक से तद्रूप है, जिसके अन्दर अपना आपा (Self Will) नहीं, मालिक की इच्छा क्रियात्मक है। जीवित पीर (Living Spiritual Adopt) ही सूफ़ीमत, सन्मत और विश्व के सभी रहस्यवादी मतों की जान है। मौलाना रूम मसनवी में लिखते हैं कि औलिया फकीरों के अन्दर एक मसजिद है, वही सबों के लिए सजदा करने की जगह है, क्योंकि वहीं खुदा प्रकट है। पैगम्बर ने कहा है कि मैं ऊपर और नीचे कहीं समा नहीं सकता और अचम्भे की बात है कि सच्चे भक्त के बातिन (अन्दर) में समाया हूँ इसलिए अगर मेरे तालिब हो तो मुझे वहाँ ढूँढ़ों और मुझसे वहाँ मिलो। सन्त मत का भी यही लक्ष्य है—'गुरु को गुरु से माँग तेरे भले की कहूँ'।

मौलाना रूम अपने पीर शम्सेतब्रीज के सम्बन्ध में कहते हैं, "ऐ ख्वाजए तब्रीजी ? अगर तेरे चेहरे के दर्पण में गैर खुदा (Other than God) देखूँ तो मैं काफिर से भी अधिक बुरा गुनाहगार होऊँ।"

सूफ़ीमत का चरम लक्ष्य—सूफ़ीमत अर्थात् तसव्वुफ, इल्मेसफीना, बातिनी ज्ञान यानि अन्तरी ज्ञान कहलाता है। अहं और कामना से रहित प्रेम, जिससे मुरीद (Disciple Devotee) अपने आपे से मुर्दा और मालिक के आपे से जिन्दा है। प्रेम आत्मा का गुण है और आत्मिक प्रेम को जगाना ही आत्मा को जगाना है और उससे पूर्णता ही परमात्मा की प्राप्ति (God Realisation) का साधन तथा साध्य हैं यह 'तरीकत' है जो संस्कारियों और अधिकारियों के लिए है, उन साधारण लोगों के लिए नहीं है, जिनके अन्दर आदि कर्म अर्थात् मन और माया से मेल करने की वासना प्रबल है।

मुसलमानों के अनुसार 'शरीयत' वह है कि स्वर्ग की प्राप्ति के लिए 'नेकी करो और बुराई से बचो।' यही तालीम पवित्र पुस्तक 'कुरान' द्वारा दी गई है, अर्थात नमाज पढ़ना, रोजा रखना, शुभ कर्म करना, अशुभ से बचना, दान देना इत्यादि जिनके करने से उनको जन्नत और उसके

सुख मिलेंगे। यही 'इल्मे सफीना' कहलाता है। 'सफीना' का अर्थ है—किताब। इस पर चलने वाला 'आबिद' अर्थात् पुजारी है और 'जाहिद' शुभ और पवित्र जीवन अपनाने वाला अर्थात् परहेजगार और पूजा-पाठ एवं धार्मिक रस्म-रिवाज का पालन करने वाला है।

सूफ़ीमत में साधक अन्तरी साधना करने वाला 'आरिफ' ('आशिक' मालिक का प्रेमी) और जन्नत के सुख और भोग नहीं, बल्कि मालिक से 'वस्ल' यानि तद्रूपता या एकरूपता का "तालिब" (चाहने वाला) है। वह अन्तरी साधना करता है, जिससे अहं का नाश हो और मालिक के प्रेम का दान मिले और अन्तरी चाल चलकर दर्जा बदर्जा चढ़ाई हो और आध्यात्मिक शब्द प्रकट हो। यही तरीका (साधन) मालिक की प्राप्ति का है। राबिआ, जो बसरा की बड़ी पवित्र आत्मा एवं गहरी प्रेमी सूफ़ी थी, के निम्नलिखित कथन से संक्षेप में सूफ़ीमत प्रकट हो जाता है—

"ऐ मालिक ! अगर मैं नर्क की आग के डर से भक्ति करती हूँ तो तू मुझे उस आग में जला दे और अगर मैं तेरी भक्ति स्वर्ग मिलने की आशा और लालसा से करती हूँ तो तू स्वर्ग से वंचित कर दे। परन्तु अगर मैं तेरी भक्ति तुझे ही पाने के लिए करती हूँ तो तू मुझे अपनी दया दृष्टि और आनन्दमय सौन्दर्य से वंचित न कर।"

सूफ़ीमत को समझने के लिए सूफ़ीमत की पारिभाषिक शब्दावली के शब्द कुछ अर्थ सहित नीचे लिखे जाते हैं—

अबुल वक्त—उन सूफ़ी बुजुर्ग या फकीर को कहते हैं जिन्होंने इश्के-इलाही में डूबकर, अपना आपा तज कर मालिक से एकरूपता प्राप्त कर ली, अर्थात् जिनको मालिक ने उनकी खुदी से मुर्दा और अपनी खुदी से जिन्दा कर दिया है। इसलिए कहा जा सकता है कि वक्त बिना उनकी मर्जी के, जो कि अब उनका नहीं मालिक का है, नहीं चल सकता। वक्त उनके अधीन है।

अहदियते फ़ेलिया—सम्पूर्ण सृष्टि और सम्पूर्ण कार्य-कलापों का कर्ता मालिक ही है और उसको ही सबका कर्ता देखना। कहा भी गया है "सतगुरु कर्ता सब जग कारज।"

"इसतहलाक", "फ़ना-अल-फ़ना"—अपनी खुदी अर्थात् अपने आपे और अहं को मिटा देना जो अपने मुर्शिद यानी अपने पीर और मालिक के प्रेम में डूब जाने से प्राप्त होता है। शाह बू अली कलन्दर फरमाते हैं "जब तू रूहानी नाम के सुमिरन से अपनी खुदी को मिटा देगा, तब तेरा रास्ता मालिक के पास पहुँचने का खुलेगा। जब तू 'तू' है, तब तक तेरा प्रीतम तेरा कैसा हो सकता है, जब 'तू' न रहेगा, तेरा प्रीतम तेरा हो जायेगा। जब 'तू' न रहेगा, 'तू' 'वह' हो जायेगा, तब तुझे विसाल (Onement with Him) प्राप्त होगा। इसलिए ऐ पूरे भक्त तू अपने आप को मिटा। जब नदी सागर में समा गयी तो फिर नदी को सागर से भिन्न करके ढूँढ़ने की कोशिश मत कर।

तवक्कुल—मुर्शिद (गुरु) पर और मालिक पर जो एक ही हैं, पूरा आसरा रखना, अपनी योग्यता, धन इत्यादि के बल पर भरोसा नहीं रखना एवं भक्ति अंग से कर्म करना।

अहवाल—'हाल' का बहु-वचन है। यह वह अनुभव है जिसमें खुशी की यह हालत होती है कि इस संसार के सभी शारीरिक और मानसिक सुख, जिनका भोग किया है अथवा जो भोगे जा सकते हैं, उन सबके समूह की तुलना उसी प्रकार है जैसे कि सागर की तुलना में पानी की एक बूँद।

इखलास—हृदय की वह शुद्धता कि संसारी वासनाओं और स्वार्थी कामनाओं से हृदय साफ और स्वच्छ हो। मुर्शिद और मालिक के प्रेम के अतिरिक्त अन्य वासनाएँ न हों।

तज़कियये नफ्स व तस्फ़ियये-बातिन—ज़िक्र (आत्मा की ज़बान से सुमिरन) और फ़िक्र (ध्यान) की युक्तियों द्वारा और पीर की सेवा तथा सत्संग करके हृदय को धीरे-धीरे साफ कराना। सफाई हो जाने के बाद ही इश्के हक़ीकी की नेमत ओर बरकत मुमकिन है।

नाला—(दर्दे इश्क़ की अन्तरी पुकार) : मौलाना रूम फर्माते हैं कि सालिक (Devotee, the traveller on the inner path) की दर्द भरी पुकार से जो न शुक्राना है और न किसी बात का गिला और शिकवा-शिकायत, केवल विरह में आँसू बहाता है सात आसमानों में शोर और हंगामा मच जाता है।" जाये न जाहिदाँ व बजार अरबई रसन्द (जहाँ कि बाहरी और जाहिरी रस्मी) जप-तप के हजार चिल्ले खींचकर भी जाहिद (Puritans) नहीं पहुँच पाते, वहाँ 'मस्ते शराबे-इश्क़ ब यक आहमी रसद' (मालिक और मालिक) से एक रूप पीर के इश्क़ (प्रेम) का प्रेमी एक दर्द भरी आह से पहुँच जाता है।

शग़फ़—यह प्रेम की अतिशयता (Extreme intensity) है जिसको अन्तर में रोका जाय। प्रेम के दर्द को छिपाया जाय। जैसा कि ख्वाजा हाफ़िज़ का कथन है—"ऐ प्रेमियों, खुदा के लिए बताओ मैं क्या करूँ, वह दर्द जो कि भेद है ज़ाहिर हो पड़ेगा।"

मुक़ामात—सभी सूफ़ी फ़कीरों ने रचना के अन्दर स्थित लोकों को भेद बताया है। मगर यह भेद गुप्त रखा गया। जुलनून (Ob. 253 A.H.) ने अहवाल (Ecstasies) और मुक़ामात की गुप्त तालीम दी' शम्सतब्रीज और उनके मुरीद मौलाना रैम ने रचना के तीन बड़े भाग बताये हैं—(1) सिफली (Material region), (2) आलमे-अक्ले-कुल (Region of the Universal Mind) और (3) आलमे-शाहे-कुन-फका (The Region of the Monarch : the Lord of the 'Be and it Was') अर्थात् शुद्ध रूहानी देश। इन भागों के उप विभाग या लोक (Subdivisions or spheres) हैं। यही निजाम (Economy) छोटे पैमाने पर इन्सानी चोले की है। सूफ़ीमत में इन्सानी चोले को आलमें सगीर (Microcosm) कहा जाता है। बाइबिल में जो कहा है कि 'God made man in his Own Image' उसका यही अर्थ है कि इन्सान ही का चोला नीचे लोक से लेकर कुल मालिक के धाम तक का मुकम्मल नमूना है। सूफ़ी भी यही कहते हैं। रचना के निजाम (Economy) के बारे में दीवाने, शम्स तब्रीज में कहा गया है। (1) "सुरत से तन तक का बड़ा रास्ता है, फिर भी तन के अन्दर सुरत ही कर्ता है। इसी प्रकार से जाने-आलम (World-Soul) को समझो कि जिससे सारे संसार में जीवन (enlivened) है।"

(2) "इसी तरह बेजान (circumference) को समझो जो जान के लिए (Macrocosmic person) पर निर्भर है, क्योंकि अगर आसमान ही जान से भरा न हो तो दुनियाँ भी बेजान रहेगी।"

(3) "जमीन और आसमानों को मदद जिससे कि वह जीवित हैं आलमें-अक्ले-कुल से मिलती है क्योंकि आलमे-अक्ले-कुल (Region of Universal Mind) प्रकाशमान, पवित्र और मोती बिखेरने वाला है।"

(4) "और इसी तरह निजमन के देश की रचना के कर्ता को निज गुणों से मदद (Replenishment) प्राप्त होती है, जो "शाहे-कुन फ़का" (The Lord of Be and it was) है, उसके जौहर के निज गुणों से अर्थात् उसके जिसने शब्द प्रकट किया और शब्द ने रचना कर दी। बाइबिल (Bible St. John, 1 : 1) में ठीक ही कहा है "In the beginning was the Word, and the Word was with God and the Word was God" अर्थात् प्रारम्भ में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ईश्वर था।

दीवाने-शम्सतब्रीज में त्रिकुटी का और त्रिकुटी के चोटी के स्थान 'सुन्न' तक का वर्णन मिलता है। जो जहाँ तक पहुँचा उसने वहीं के धनी (Presiding Deity) को कुल-मालिक समझा। कबीर साहब ने भी कुल रचना के मुक़ामात बताये हैं। ब्लातीनूस (Plotinus) ने भी, जो शम्से तब्रीज, और उनके गुरुमुख मौलाना रूम से लगभग हजार साल पहले हुए हैं रचना के निजाम के ऐसे ही तीन भाग बताये हैं—

1. शम्से तब्रीज और मौलाना रूम ने जिसे जाते-किदम कहा है, वहीं (The Absolute Unity, Prime Mover) अर्थात् प्रथम कर्ता है। उसी का 'दर्शन', 'प्राप्ति' और 'मिलन' और 'अहं रहित प्रेम' अपने मत का उद्देश्य बताया है जो कि सभी रहस्यावादियों का है।

2. ब्लातीनूस (Plotinus) ने दूसरे भाग को Nous (Universal Mind) (the eldest off-spring of the Absolute Unity) कहा है जिसे दीवाने-शम्स-तब्रीज की गजल में, 'अक्ले-कुल' कहा गया है। ब्लातीनूस ने Nous को Absolute Unity से घटिया बताया है क्योंकि विचार 'thought' से द्वैत भाव 'Duality' पैदा होता है।

3. ब्लातीनूस ने तीसरे भाग को Universal Soul कहा है जिसे शम्स तब्रीज और मौलाना रूम ने "नफ़सेकुल" या "जाने-आलम (Universal Soul) कहा है जो आलमे सिफली (Material Region) को जान देता है।" ब्लातीनूस ने आलमे सिफली (Material Region) को अक्ले कुल या निजमन (Universal Mind) पर निर्भर बताया है और आलमे-अक्ले-कुल (Region of Universal Mind) को Prime Mover, the Absolute Unity, the Highest Good and Beauty पर। नफ़्से-कुल या जाने-कुल (Universal Soul) : 'Soul' शब्द से मतलब जीव-आत्मा है। जिस तरह Oxygen के साथ Hydrogen के मिलने से तीसरी वस्तु 'पानी' बन जाता है। अहं से रहित आत्मा के लिए 'Spirit' शब्द है। 'Universal-Soul' या World-Soul दोहरा स्वभाव (double nature) है। ब्लातीनूस कहता है कि नफ़्से-कुल (Universal Soul) अन्दर और ऊपर से अक्दे-कुल से प्रकाश प्राप्त करती है तथा बाहर और नीचे से आलमे सिफ़ली (Material Region) को जान प्रदान करती है। एक सूफी फकीर ने कुछ मुक़ामात (लोकों) का जो वर्णन दिया है, वह यहाँ लिखा जाता है—

पहली मंजिल जिसको **नासूत** कहते हैं, वह पशु प्रवृत्तियों से भरपूर है। हमारी पृथ्वी आलमेनासूत है। अगर सालिक (अभ्यासी) इस मंजिले-नासूत के पार चला जाय तो वह फरिश्तों के घाट अर्थात् दूसरी मंजिल **आलमे मलकूत** में पहुँच जायेगा। जब वह इस लोक को प्राप्त कर लेता है तो वहाँ फरिश्तों को प्रकट देखता है। जब वह आलमे मलकूत से आगे चढ़ाई करता है, तब वह तीसरे मुक़ाम जब्रूत में दाखिल होता है। इस मंजिल में एक दर्जे की रूहानी प्रकाश और ताकत प्रकट हो जाती है, परन्तु इस मुक़ाम पर न रुकना चाहिए और ऊपर आगे चढ़ाई करनी चाहिए। यदि इस मुक़ाम पर इस दुनियाँ या आलमे-मलकूत के नक़्श और गुनावन उत्पन्न हो तो उस ओर से चित्त को हटा लेना चाहिए। इसलिए कि सालिक (साधक) नीचे न फिसल जाय। पवित्र रूहानी नाम के तेजमय सुमिरन के द्वारा यह सब छोड़ देना चाहिए और तौबा (ऐ मालिक

बचा) के जल से हृदय को धो लेना चाहिए और आलमे जब्रूत से ऊपर बढ़ना चाहिए। जब इस तरह मुरीद का हृदय और जान मालिक के अलावा (other than God) तथा तन-मन की वासनाओं में गुनावन और बिघ्नों से है। उस चौथी मंजिल पर पहुँच कर खुदा की तलाश बाकी नहीं रहती है और सालिक खुदा से सालोक हो जाता है। (जिन सूफ़ी फकीर का यह कलाम है, उनकी पहुँच इस मुक़ाम तक थी, इसलिए अपने अनुभव में आलमे लाहूत के धनी ही को उन्होंने कुल मालिक समझा)। लिखते हैं कि "मिलन की मंजिल उस धनी का अनामी रूप है जो (Manifest Form) प्रकट रूप से जुदागाना है और बयान में नहीं आ सकता। जब सालिक (devotee) उस धनी की रहमत से उस मिलन की अवस्था को प्राप्त होता है तो नीचे की सारी रचना का मालिक हो जाता है।"

सूफ़ी मत तथा अन्य रहस्यावादियों के मत के अनुसार इन्सानी चोला छोटे पैमाने पर कुल रचना का नमूना है। उसके अन्दर ऐसे केन्द्र मौजूद हैं जिनके अन्दर कायम शक्तियों को जगाकर रचना के कुल मुक़ामों से मेल किया जा सकता है और सबसे ऊँचे केन्द्र के मालिक की दया होने पर हम मालिक के दर्शन ऐसे कर सकते हैं जैसे इन आँखों से सूरज को देख सकते हैं। मौलाना रूम लिखते हैं कि अपने दिमाग (Sensorium) के अन्दर देखो इन दोनों आँखों के अतिरिक्त और बहुत से चक्षु तुम्हारे अन्दर छिपे हैं। धर्म असल में सूराख को खोलना अर्थात् गुप्त (Latent) से प्रकट (Kinetic) करना है।

सूफ़ी मत की युक्तियाँ—सूफ़ी मत की दो युक्तियाँ हृदय की शुद्धता को प्राप्त करने के लिए हैं, ताकि अभ्यासी एकाग्र चित्त हो सके। वे हैं ज़िक्र (सुमिरन सूरत की बैठक के स्थान पर आत्मा की जुबान से), और फिक्र (ध्यान)। जब कुछ समय तक अभ्यासी इनकी कमाई करके तीसरे साधन के लायक हो जाता है तो मुर्शिद उसको आबाज़ की सुरत की युक्ति (रूहानी शब्द को आत्मा की श्रवण शक्ति से सुनना) बताते हैं और सालिक उसकी कमाई में लग जाता है।

ज़िक्र—पवित्र नाम का सुमिरन आत्मा की ज़बान से किया जाता है। यह नाम ध्वन्यात्मक नाम होता है जो किसी लोक के धनी की बात और बजूद (Being) से पैदा हो रहा है। ख्वाजा-मुई-न-उद्दीन चिश्ती फर्माते हैं, "नामी और नाम में अन्तर नहीं है।" नाम का प्रकाश नामी का प्रकाश है। मौलाना रूमी का कथन है, 'नाम क्या है ? रूहानियत के सूरज का प्रकट होना, उस खुदा के वजूद और जात का प्रकाशित (Manifest) होना।' हज़रत फरीद-उद्दीन अत्तार फर्माते हैं, "आम लोग ज़बान से सुमिरन करते हैं और जो खास (select) हैं, वे नाम की चोट (ज़र्ब), दिल पर लगाते हैं और जो ख़ास-अल-ख़ास (Super elect) हैं, आत्मा की ज़बान से सुमिरन करते हैं। जो इस तरह सुमिरन नहीं करता वह टोटे में रहेगा। इसको 'समाअ् बातिनी' अन्तरी सत्संग (Internal Satsang) कहते हैं। "सत्संग क्या है ? अन्तरी पैग़ाम, विरही दिल को, जिससे आराम मिलता है। एक अजीब (अनौखी) मिठास बदन में महसूस होती है। लबों में बांसुरी से शक्कर भर जाती है।" जब यह अभ्यास ठीक-ठीक बनता है तो बदन आधा मुर्दा हो जाता है। मिठास आ जाती है जैसे किसी ने कोई हल्की मीठी चीज ज़बान पर लगा दी है। आँखों में भी मिठास आ जाती है। ऐसी ठण्डक मालूम होने लगती है जैसे किसी ने बर्फ का टुकड़ा रखकर उठा लिया हो। 'फ़िक्र' (ध्यान-Contemplation of the Holy Form) आत्मा के उस केन्द्र पर जो आत्मा ने इन्सानी चोले में, उस केन्द्र पर जो उसका आत्मपद है, बनाया है, वह उसकी बैठक का स्थान है। उसके नीचे चक्रों में आत्मा ने केन्द्र नहीं बताया। वह वहाँ से अपनी

धारों द्वारा तन को जान देती है। नीचे के चक्रों में स्थूल माया प्रधान है, इसलिए आत्मा के गुण नाममात्र भी नहीं रह जाते। इसलिए तन और पिण्डी मन (Lower-mind) प्रधान हो जाते हैं।

ज़िक्रा (सुमिरन) के दर्जे—हज़रत हाजी शाह इमदादुल्लाह साहब ने जो अरब ईरान और हिन्दुस्तान के शेख के लकब से मशहूर हैं, अपनी पत्रिका "जिया-उल-क़लूब" जो फारसी ज़बान में है, चिश्तिया क़ादिरिया, व नक्श-बंदिया खानदान के शुरलों (सुरत शब्द अभ्यास की युक्तियों) और अज़्कार (सुमिरन की विधियों) का हाल लिखते हुए ज़िक्र को चार तरह का माना है—

1. ज़िक्र नासूती, जिसमें "ला-इलाहा-इलल्लाह" का सुमिरन ज़बान से होता हैं। गुदा, इन्द्री और नाभि तीनों के लिए मिलकर एक नाम नासूत है।

2. ज़िक्र मजकूती (हृदय, कंठ और छठे चक्र तीनों के लिए मिलकर) एक नाम मलकूत है। इसमें "इल-अल्लाह" का सुमिरन दिल पर जर्ब (चोट) लगाकर किया जाता है।

3. ज़िक्रे जब्रूती में 'अल्लाह' का सुमिरन रूह से किया जाता है।

4. ज़िक्रे लाहूती—इसमें ध्वन्यात्मक शब्द का सुमिरन एक पोशीदा तरीके से किया जाता है, इसलिए इसको ज़िक्रे-सिर भी कहते हैं ('सिर' के मानी है 'भेद')।

5. उन्होंने 'सुल्तान-अल-अज़्कार' जिसका शब्दार्थ है, "सुमिरन विधियों का बादशाह" के अन्तर्गत अनहद शब्द का (जिसे "शुरले-सरमदी" भी कहते हैं) बयान किया है। इसमें सुमिरन आत्मा की ज़बान से किया जाता है और अनहद शब्द को आत्मा की श्रवण शक्ति से सुनने का अभ्यास किया जाता है। सूफ़ी फकीरों ने त्रिकुटी (मुसल्लिसी) के परे 'सुन्न' को आलमे लाहूत कहा है। लाहूत के परे महासुन्न को 'हाहूत' और उसके ऊपर मुक़ाम को "हूत-अल-हूत" कहा है और वहाँ की रूहानी आबाज़ "अनाहू" का ज़िक्र किया है। जैसा कि मौलाना रूम ने कहा कि मैं सिवाए 'याहू' व 'यामिनहू' के और किसी चीज से वास्ता नहीं रखता। यहूदी धर्म में भी याहू (JEHOVEH) मालिक का एक ध्वन्यात्मक नाम बताया गया है। वैसे 'हू' का अर्थ अरबी भाषा में 'वह' अर्थात् खुदा भी होता है।

ज़िक्र (सुमिरन) के सिलसिले में सूफ़ी फकीर शेख फरीदउद्दीन लिखते हैं, "आसमान के ऊपर जा और इस ऊँचाई से शब्द की धुन सुन। साधारण लोग (आम लोग) ज़बान से सुमिरन करते हैं और खास दिल से और खास-अलखास एक खास पोशीदा अर्थात् आत्मा की ज़बान से सुमिरन करते हैं जिसे उन्होंने 'ज़िक्र सिर' कहा है और यह कि जो 'ज़िक्रे-सिर' नहीं करता, वह घाटे में रहेगा।"

अगर ज़िक्र (सुमिरन) प्रेम अंग से किया जाता है, तो रूप (Holy Form) खुद व खुद स्वयं प्रकट हो जाता है। रूप प्रकट होते ही तन की सुध-बुध खो जाती है। (Forgetfulness of the physical-self) "दर्शन करत पिण्ड सुधि भूली।" इसका परिणाम यह होता है कि "शब्द" प्रकट हो जाता है, "अन्तर में शब्द सुनाई देना आखिर उसी रश्के-हूर (envy of the fairies) प्रीतम के नूरानी अर्थात् प्रकाशमान स्वरूप का परिणाम था।" यह मौलाना रूम के शेर का अनुवाद है *सूफ़ी हृदय को सनोबरी दिल कहते हैं। सुरत के बैठक के स्थान पर जो क़ल्ब अर्थात् 'दिल' है उसे सूफ़ी 'क़ल्बे मुनीब' कहते हैं और 'ओम्' पद का जो दिल है, उसे वे 'कल्बे सलीब' कहते हैं, "हिया, त्रिकुटी मांहि।"

शुग्ले सौते-सरमदी (The Practice of hearing the spiritual sound)—अर्थात् अन्तर में ध्वन्यात्मक शब्द सुनना जब सुरत की बैठक के स्थान पर सालिक प्रेम अंग लिए एकाग्र चित्त हो जाता है तो पीर अर्थात् सतगुरु की दया से शब्द प्रकट हो जाता है और उसके आकर्षण से 'सुरत' अन्तर में और ऊपर की ओर खिंचती है क्योंकि वास्तव में यह शब्द-धार प्रथम कुल-मालिक से प्रकट हुई है। नीचे आकर भी हर घाट के शब्द के अन्दर उसी का जौहर (essence) क्रियात्मक है। आत्मिक अहं-रहित प्रेम ही मालिक का जौहर है और उसी की महिमा है। "सब मत अधिका प्रेम बतावें। योग युगत सूं बड़ा दिखावें।"

अहं रहित प्रेम—"प्रेम बराबर योग न प्रेम बराबर ज्ञान। प्रेम भक्ति बिन सबही थोथा ज्ञान" (कबीर)। सूफ़ीमत में प्रेम ही की महिमा है। जहाँ पाक-बाज़ मुल्ले, पण्डित अपनी वाणी और रस्मी पूजा-पाठ से, जप-तप से एक हजार चिल्ले खींचकर भी नहीं पहुँच सकते वहाँ प्रेमी भक्त प्रेम की एक आह से पहुँच जाता है, "जाए न जाहिदां ब हजार अर्बईरंसन्द, मस्ते शराबे-इश्क बयक आह मी रसद।"

मुर्शिद की सुहवत—मुर्शित की नजदीकी, उनके सामने बैठकर उनकी आँखों और माथे को प्रेम से देखना उनकी आरती है जिससे मालिक (साधक) की आत्मा जागती है। मुर्शिद की एक साअत (थोड़ी देर) की सुहबत सौ साल की रस्मी निष्कपट पूजा-पाठ से बढ़कर है।

"गुरु का निरखो आँख और माथा। सत्य का नूर रहे जिन साथा।"

मुर्शिद की गति—मौलाना रूम के अनुसार मुर्शिद खुदा के अलावा और कुछ नहीं।

तबर्रुक—प्रसाद की भी बड़ी महिमा है। जब सालिक पीर से दूर है और उसे उनकी सोहबत नहीं मिल सकती, तब सालिक की रूहानी सेहत के लिए प्रसाद की विशेष महिमा है।

खिदमते-पीर—"पीर की भक्ति-पूर्ण सेवा के बिना न तो अन्तर में चन्द्र और सूर्य देखे जा सकते हैं और न रूहानियत के सागर मालिक से मिलन ही हो सकता है।"

—दीवाने-शम्से तब्रीज

●

18

संतमत

संतमत का अर्थ है संतों के द्वारा प्रतिपादित मत। संतमत को समझने के लिए संत शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है। संत शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है—नित्य सत्ता अर्थात् जिसका कभी विनाश नहीं होता। इस दृष्टि से यह शब्द सत् शब्द का पर्यायवाची माना जा सकता है।

संत शब्द के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद, छान्दोग्य उपनिषद् और तैत्तिरीय उपनिषद् में संत शब्द का प्रयोग 'एक' एवं अद्वितीय परम तत्त्व के लिए किया गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि धर्म के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थों में संत शब्द का प्रयोग अलौकिक शक्ति के अर्थ में हुआ है। कालान्तर में संत शब्द का प्रयोग सदाचारी व्यक्ति के लिए भी होने लगा। त्यागी, परोपकारी तथा सत्य एवं अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को संत कहा जाने लगा, परन्तु ये गुण तो संतों के आचरण सम्बन्धी लक्षण हैं, उनका पारिभाषिक अर्थ नहीं। सत् का अर्थ है सार तत्त्व, उसका ज्ञाता भी सत् है और वही संत है। इस प्रकार संत शब्द का पारिभाषिक अर्थ है—वह महान आत्मा जो सतपुरुष के साथ तद्रूप हो चुकी है। स्पष्ट है कि सामान्य व्यक्ति चाहे वे सदाचारी हो परन्तु संत नहीं हो सकते। वे संत की शरण लेकर संतों के धाम अर्थात् संत देश में प्रवेश तो कर सकते हैं परन्तु वे किसी अन्य व्यक्ति का उद्धार कर उसे सत्तदेश तक नहीं पहुँचा सकते। इस सम्बन्ध में परमगुरु हुजूर महाराज का निम्न कथन दृष्टव्य है—

"संत सतगुरु सत्त पुरुष के अवतार हैं और वही सच्चे और पूरे गुरु हो सकते हैं, दूसरे को पूरा गुरु या सतगुरु या संत नहीं कह सकते।"

अतएव संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत् रूपी परम तत्त्व का अपनी साधना के माध्यम से अनुभव कर लिया हो तथा अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, दरिया साहब (बिहार वाले), भीखा, पलटू आदि संतों ने संत शब्द का प्रयोग दो प्रकार से किया है—प्रथम तो सम्बोधन के रूप में और द्वितीय संत के बाह्यचरण एवं साधनागत विशेषताओं को परिलक्षित करने के लिए। कबीर आदि संतों ने जहाँ अपनी साधना सम्बन्धी अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं, वहाँ उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की पुष्टि हेतु संतों को सम्बोधित किया है, यथा—

"संतौ बन्दगी दीदार। सहज उतारौ सागर पार"

स्पष्ट है कि इन संतों की दृष्टि में संत आध्यात्मिक पक्ष से एक पूर्ण और आदर्श व्यक्ति है।

श्री रामानन्द संत उसे मानते हैं जो विभिन्न सांसारिक विपत्तियों के मध्य संघर्ष करते हुए मायामुक्त हो सके :

"पिण्ड पड़े तो सतगुरु लाजे,
ग्यान की कोबड़ी पड़त लह पूरा
पचि मुवा संसार निकस्या,
कोई संत जून सूरां।"

परम गुरु साहबजी महाराज द्वारा अनूदित 'अमृतवचन' में संत की परिभाषा निम्न शब्दों में की गई है–

"जो पुरुष अपने शरीर (पिण्ड) के छः चक्रों को जगा लेता है, वह तीसरे यानी मलिन माया देश का कामिल यानि पहुँचा हुआ पुरुष समझा जाता है। वह अभी मौत के मुक़ाम के पार नहीं पहुँचा है लेकिन स्वप्न, सुषुप्ति और रास्ते की मंजिलों को तय कर चुका है और इस वजह से उसको इस तमाम नजराई देने वाली सृष्टि का और उसकी सूक्ष्म अवस्थाओं का भरपूर ज्ञान हासिल है। जो पुरुष ब्रह्म यानी ब्रह्माण्डी मन के पहले पहुँचे हैं और जिन्होंने मृत्यु को जीत लिया है, वे योगी कहलाते हैं। इस तरह जो पुरुष ब्रह्म के दूसरे व तीसरे स्थानों यानी त्रिकुटी व सुन्न तक पहुँचे हैं, उनमें से पहले योगीश्वर और दूसरे साधु या महात्मा कहलाते हैं और जो पुरुष ब्रह्माण्ड के परे यानी रचना के दूसरे दर्जे के पार निर्मल चैतन्य देश में पहुँचे हैं, उनको संत कहते हैं और जो संत निर्मल चैतन्य देश के सबसे ऊँचे पद तक, जो कुल मालिक का निज धाम यानी चैतन्य शक्ति का आदि भण्डार है, पहुँचे हैं, उनको परम संत कहते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि संत उसी व्यक्ति को कहा जा सकता है जो अपनी आन्तरिक साधना के बल पर संसार व माया पर विजय प्राप्त कर एक निश्चित मुक़ाम (निर्मल चैतन्य) तक पहुँच सके हैं। इस परिभाषा में योगी, संत एवं परम संत का अन्तर भी स्पष्ट किया गया है।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि संत शब्द जन साधारण में सदाचारी व्यक्ति के लिए भी प्रचलित है परन्तु यह इस शब्द का वास्तविक पारिभाषिक अर्थ नहीं है। आध्यात्मिक साधना संत का अनिवार्य लक्षण है।

संत के लक्षण

संत शब्द के व्युत्पत्ति परक अर्थ एवं उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि–

1. संत आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण और आदर्श व्यक्ति है। वह अपनी साधना के बल पर सर्वोच्च सत्ता का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।
2. वह विवेकी, सारग्रही तथा निष्काम भक्त होता है।
3. वह विषयों से दूर रहता है।
4. वह गुरुमुख होता है।
5. भक्ति उसकी सर्वोच्च आकांक्षा होती है।
6. उसके हृदय में गुरु के प्रति अटूट एवं अगाध श्रद्धा होती है।
7. वह विनम्र, उदार, शीलवान एवं परोपकारी होता है।

8. वह संसार एवं शरीर से अनासक्त होता है।
9. वह समदृष्टि रखता है।

संत परम्परा

संत परम्परा के अन्तर्गत कबीर को प्रथम संत के रूप में स्वीकार किया गया हैं ऐतिहासिक दृष्टि से इस परम्परा का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि कबीर से पूर्व भी अनेक महात्माओं के नाम इस परम्परा में आते हैं, यथा–जयदेव, नामदेव आदि परन्तु इनमें संतमत को सुदृढ़ पृष्ठभूमि प्रदान करने की क्षमता नहीं थी। इस परम्परा की विचारधारा को स्पष्ट एवं व्यापक रूप देने का श्रेय कबीर साहब को ही है। गुरु नानक, पलटू, जगजीवन, तुलसी साहब एवं स्वामीजी महाराज आदि इसी परम्परा के प्रमुख संत हैं।

संतमत की प्रमुख धाराएँ

1. कबीर पंथ, 2. सिक्ख धर्म, 3. राधास्वामी मत।

संतमत के सिद्धान्त

1. संतमत का प्रमुख सिद्धान्त है कि इस सृष्टि का संचालन एक अलौकिक एवं अद्वितीय सत्ता के द्वारा होता है। वही समस्त चैतन्य धारों का उद्गम स्थान है।

2. संतमत में समय के संत सतगुरु की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। संत कबीर साहब ने तो गुरु को गोविन्द से भी बढ़कर माना है–

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपणें गोविन्द दियो बताय।"

सतगुरु का अर्थ है सच्चा गुरु अर्थात् जिसने साधना के द्वारा परमसत्ता का साक्षात्कार किया हो तथा जो अपने शिष्य को उस सत्ता से मिला सकता हो। गुरु नानक साहब ने सच्चे गुरु की पहचान निम्न शब्दों में बताई है–

"घर माहिं घर दिखाय दे, सो सतगुरु पुरुष सुजान
पंच शब्द धुनकार धुन तहं बाजै शब्द निशान॥"

3. संतमत में सत्संग को विशेष महत्त्व दिया गया है। सत्संग का अर्थ है सच्चा संग अर्थात् सत् स्वरूप का साथ क्योंकि सतगुरु उस सत्य का साक्षात्कार कर लेने के कारण सत् स्वरूप हैं, अतः उनके साथ उठना-बैठना बाह्य सत्संग कहलाता है और अन्तर में परम सत्ता से साक्षात्कार अन्तरी सत्संग कहलाता है।

4. संतमत का एक प्रमुख सिद्धान्त है सेवा। सेवा से तात्पर्य गुरु की सेवा तथा प्राणिमात्र की सेवा से है। सेवा से ही प्रसन्न होकर गुरु मानव पर कृपा करते हैं। गुरु की आज्ञा का पालन ही गुरु सेवा है। गुरु भक्तों की सेवा भी उनकी ही सेवा है। सिक्ख धर्म तथा राधास्वामी मत में सेवा पर विशेष बल दिया गया है। कबीर साहब का निम्न दोहा इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है–

"जा घर साध न सेवियहि, हरि की सेवा नाहिं।
ते घर मरहट सारखे, भूत बसहिं तिन मांहि॥"

5. संतमत सुरत-शब्द अभ्यास की युक्ति द्वारा मानव को अपने गन्तव्य तक पहुँचने का मार्ग बताता है। सुरत या आत्मा को शब्द की धार पकड़कर नीचे से ऊपर चढ़ाना ही सुरत-शब्द

अभ्यास है। यही शाश्वत् सुख प्राप्ति का उपाय है। सुरत-शब्द अभ्यास का उपदेश संत, सतगुरु, साध गुरु या उनके भक्त (सत्संगी) ही दे सकते हैं। संतों का अभ्यास छठे चक्र से प्रारम्भ होता है। शब्द परमसत्ता (मालिक) का ध्वन्यात्मक नाम है।

6. संतमत में भक्ति का प्रमुख स्थान है। भक्ति के द्वारा ही गुरु की कृपा प्राप्त की जा सकती है।

7. संतमत के अनुसार मानव कुल रचना का छोटा नमूना है। मानव शरीर में वे सभी लोक विद्यमान हैं जिनकी ऊपर कल्पना की गयी है। अत: मानव शरीर साधना का माध्यम है। संतमत स्मरण (सुमिरन) और ध्यान पर विशेष बल देता है। मानव अपने शरीर में निहित उच्च कोटि की आध्यात्मिक शक्तियों को ईश्वर के स्मरण द्वारा जाग्रत कर सकता है। संतमत में ध्यान से तात्पर्य है आत्मा के स्थान (छठे चक्र) पर चित्त को केन्द्रित करना। संतमत संसार को मिथ्या तथा मानव को नश्वर मानता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संतमत भक्ति मार्ग है। सेवा का इसमें विशेष महत्त्व है तथा सुरत-शब्द अभ्यास उस शाश्वत सत्य को प्राप्त करने का उपाय है।

संतमत की मानव समाज को देन

संतमत की मानव समाज को देन अविस्मरणीय है। संतों के सिद्धान्त न केवल अपने समय के समाज के लिए अपितु आज भी समाज में भावात्मक एकता, संगठन एवं प्रजातान्त्रिक प्रणाली को सफल बनाने हेतु उपयोगी हैं।

सभी संतों ने ईश्वर को निर्गुण निराकार माना है। उसको किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। बौद्ध धर्म, जैन धर्म, ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म में ईश्वर को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है जिससे परस्पर वैमनस्य एवं भेद-भाव उत्पन्न होता है। समाज वर्गों में विभक्त होता है, जबकि संतमत ईश्वर को निर्गुण-निराकार परमतत्त्व के रूप मे स्वीकार कर इन धर्मों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। संतमत का सिद्धान्त है कि सभी धर्मों का गन्तव्य समान है उस तक पहुँचने के साधन भिन्न-भिन्न हैं।

संतों का ईश्वर के लिए प्रयुक्त किया गया नाम ध्वन्यात्मक है, वर्णात्मक नहीं। यही कारण है कि संतमत धर्म व ईश्वर के नाम पर होने वाली कलह को समाप्त कर परस्पर भ्रातृत्व भावना जाग्रत करने में समर्थ है। यह भावना प्रजातन्त्र प्रणाली का मूलाधार है। इस प्रकार संतमत के सिद्धान्त प्रजातान्त्रिक प्रणाली को सफल बनाने में सहायक हैं।

संत समाज के हर वर्ग एवं जाति में हुए हैं—यथा—कबीर जुलाहा दम्पत्ति के यहाँ तथा रैदास चमार परिवार में। इस प्रकार संतमत में जाति एवं वर्ण के आधार पर भेदभाव नहीं हैं क्योंकि संत समाज के उच्च वर्ण में भी हुए और निम्न वर्ण में भी।

भाषा के माध्यम से भी संतों ने समाज को जोड़ने का प्रयास किया है। संत जिस स्थान पर जाते, वहीं की भाषा के शब्दों को अपनाते। इस प्रकार उनकी वाणी जन-सामान्य की थी, उसे सभी लोग समझते थे।

अन्त में कहा जा सकता है कि संतमत ने समाज में छोटे-बड़े का भेद-भाव दूर किया। उन्होंने जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, पद आदि का भेद बाह्य एवं मिथ्या बताया। उन्होंने ऐसे धर्म की स्थापना की जो किसी व्यक्ति या वर्ग का न होकर मानव मात्र का था।

●

19

संत कबीर और कबीर पंथ

कबीर साहब आदि संत कहलाते हैं। उनका जीवन अनेक अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण है। कबीर साहब सम्वत् 1455 वि. में जेठ सुदी बरसायत (वट सावित्री) को पूर्णिमा (सोमवार) के दिन काशी के लहरतारा तालाब में एक कमल के पुष्प पर मिले थे। नीरू-नीमा नामक जुलाहा मुसलमान दम्पत्ति ने उनका पालन-पोषण किया। काजी को बुलाकर जब उनका नामकरण करना चाहा तो जैसे ही उसने कुरान खोली, कबीर, अकबर, कुबरना और किबरिया ये चार नाम निकले जो सभी खुदा के नाम थे। पाँच-सात काजी आये, सबके कुरानों में ये ही नाम निकले। सबको बड़ा विस्मय हुआ। वे इतना बड़ा नाम गरीब जुलाहे के पालित बच्चे को नहीं देना चाहते थे इसलिये उन्होंने कहा कि नीरू, इसे मार डाल। जब उन्हें मारने का इरादा किया तो कबीर ने कहा—मैं अवगत (अज्ञात शक्ति) से चलकर आया हूँ माया ने जग को भरमा रखा है। मेरा कोई भेद नहीं पा सका। न तो मेरा जन्म हुआ, न मैंने गर्भ में वास किया और बालक होकर दिखा दिया। अत: बालक का नाम कबीर रखा गया। कबीर अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है श्रेष्ठ।

लगभग 5 वर्ष की अवस्था में जब वे खेलने जाते तो कभी राम-राम कहते, कभी हरि-हरि बोलते। मुसलमान उनकी यह बात सुनकर कहते "तू बड़ा काफिर है।" इस पर वे उत्तर देते, "गला काटकर बिस्मिल करने वाले काफिर होंगे। औरों को तो वे काफिर कहते हैं लेकिन उन्हें अपना स्वयं का कुफ्र (अल्लाह में विश्वास का अभाव) दिखाई नहीं देता। एक बार जब वे माथे पर तिलक लगाकर एक जनेऊ पहन कर बालकों के साथ जा रहे थे तो ब्राह्मणों ने कहा—"यह तेरा धर्म नहीं है।" उन्होंने उत्तर दिया—"मेरी जिह्वा विष्णु है, नेत्र नारायण और हृदय में गोविन्द बसे हैं। हम तो सूत का ताना तानते हैं और तुम्हारे कण्ठ में जनेऊ सुशोभित होता है तुम तो केवल गीता एवं गायत्री मात्र बांचते हो, हमारे तो हृदय में गोविन्द बसे हैं।"

हिन्दू और मुसलमान जब दोनों धर्मों के लोग आ-आ कर कहने लगे कि "तू निगुरा है" तो एक दिन बड़े सबेरे वे गंगाजी की सीढ़ियों पर जाकर लेट गये। थोड़ी देर के बाद स्वामी रामानन्द उसी घाट पर स्नान करने आये तो उनके पाँवों की ठोकर खाकर वे 'बाप रे ! बाप रे !' कहकर रोने लगे। स्वामी जी ने बालक को गोदी में उठाकर कहा—"बेटा ! राम-राम कहो" तब से वे राम-राम कहने लगे। अब वे निगुरे नहीं रहे और पूछने पर बताते कि स्वामी रामानन्द उनके गुरु हैं। कबीर को विधर्मी बनता देखकर मुसलमानों ने उनकी सुन्नत करानी चाही। तब कबीर

साहब ने कहा–"जोर-जुल्म के साथ तुम सुन्नत करते हो। मैं इसे स्वीकार नहीं करूँगा। यदि खुदा ने तुम्हें तुर्क बनाया होता तो तुम्हारी मुसलमानी पेट में ही हो जानी थी, किन्तु ऐसा नहीं होता। फिर तुम मुसलमान कैसे हुए ?" इसे सुनकर सब हिन्दू-मुसलमान जमा होकर स्वामी रामानन्द के पास गये और पूछा कि "आपने इस लड़के को अपना शिष्य कब बनाया ?" उनके मना करने पर कबीर ने उन्हें वह घटना याद दिलाई, तब उन्होंने कबीर को छाती से लगा लिया और अपना शिष्य स्वीकार कर लिया।

एक बार गंगा में बहकर जाते हुए मृतक बालक को जब कबीर साहब ने जीवनदान दिया, तब बादशाह ने विस्मित होकर कहा था–"साहब, आपने तो कमाल कर दिया।" तभी से उस बालक का नाम कमाल पड़ गया। इसी प्रकार पीर शेखतकी की मृत लड़की को कबीर साहब ने कब्र से निकलवाकर जिन्दा किया। यह उनकी अन्तिम परीक्षा थी जिससे शर्मिन्दा होकर शेखतकी ने कबीर साहब को अपना गुरु मान लिया और उनसे अपने समस्त अपराधों की क्षमा माँग ली। यह चमत्कार देखकर बादशाह के मुख से अनायास निकल गया, "साहब, आपने कमाल कर दिया।" अत: उस लड़की का नाम कमाली रक्खा गया। यह लड़की भी कबीर साहब की शिष्य बन गई।

लोई एक बनखण्डी बैरागी की पालित कन्या थी जो उसे नदी में बहती हुई मिली थी। उस बैरागी के देहान्त के बाद वह कबीर साहब की शिष्या बन गई थी। कबीर साहब ने न तो विवाह ही किया था और न उनके बच्चे ही थे।

जब कबीर साहब अपनी मण्डली सहित मथुरा गये तो वहाँ उनकी एक धनी धर्मदास से भेंट हुई और उन्होंने उन्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। धर्मदास जब वहाँ मन्दिर के पास भोजन बना रहे थे तो जमीन में हजारों चींटियाँ निकलने लगीं और आग में जल गईं। धर्मदास के पश्चाताप करने पर कबीर साहब ने अपनी अलौकिक क्षमता से चींटियों को जीवनदान दे दिया। यह चमत्कार देखकर धर्मदास उनके शिष्य बन गये। बाद में बाँधोगढ़ में आकर स्वयं कबीर साहब ने 'कबीर पंथ' की स्थापना की।

यह एक किंवदन्ती थी कि जो मगहर में मरेगा, वह अगले जन्म में गधा बनेगा। इस भ्रान्ति को मिटाने के लिए वे मगहर गये और मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी सम्वत् 1575 वि. में वे वहाँ अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार उन्होंने उस स्थल को पावन तीर्थ बना दिया। जब बिजली खाँ पठान (मगहर के नवाब), महमुद्दौला, (अयोध्या के नवाब) मुसलमान तथा वीरसिंह बघेल (काशी नरेश) एवं रामसिंह (बाँधोगढ़ अर्थात् रीवां नरेश) हिन्दू राजाओं ने अपनी-अपनी रीति से उनका अन्तिम संस्कार करना चाहा तो आकाशवाणी हुई–"कुटिया का द्वार खोलकर देखिये, मेरा मृत शरीर वहाँ नहीं है, आप लोग व्यर्थ ही युद्ध के लिये तैयार हो रहे हैं। जब द्वार खोलकर देखा गया तो केवल ऊपर ओढ़े गये दो चादर और कुछ फूल मिले जिन्हें हिन्दुओं और मुसलमानों ने आधा-आधा बाँटकर, बिजली खाँ ने दरगाह तथा वीरसिंह ने समाधि बनवाई।"

कबीर साहब ने आधी साखी में ही करोड़ ग्रन्थों का सार भर दिया है। वे कहते हैं कि नाम (सार शब्द) सच्चा है और संसार झूठा। इसलिए यदि सुरति (आत्मा) नाम (शब्द) को पहचान कर सुरति शब्द योग द्वारा सत्य पुरुष (ईश्वर) का साक्षात्कार कर ले तो उसका आवागमन मिट जायेगा।

उन्होंने सच्चे धर्म का यथार्थ स्वरूप संसार के सम्मुख रखा और यह बताया कि संसार में जीव काल और माया के चक्र में फँसा है। यह मन जो काल का ही अंश है, सदैव अशुभ कर्मों में लीन रहता है। इसलिए न तो उसे शान्ति मिलती है, न मोक्ष। कर्मों की इतनी बड़ी गठरी उसके सिर पर रखी है कि वह इस जन्म के कर्मों को ही पूरा नहीं भुगत पाता। अनेक जन्मों के कर्मों का फल कैसे भुगत लेगा ? जितना सुलझने का प्रयत्न करता है, उतना ही उलझता जाता है।

कबीर साहब ने यह बताया है कि सद्गुरु ही कर्मों के जाल से मुक्त कर सकते हैं और जीव को आवागमन के चक्र से बचाकर मोक्ष प्रदान कर सकते हैं। इसलिए उन्होंने सतगुरु भक्ति पर सबसे अधिक जोर दिया और गुरु परम्परा प्रारम्भ कर दी। मोक्ष के लिए सतगुरु की शरण ग्रहण करो। यह उनकी महत्त्वपूर्ण शिक्षा है।

उन्होंने जीवों के उद्धार का सरल मार्ग 'सुरत शब्द योग' चलाया। सृष्टि के प्रारम्भ (आदि) में केवल शब्द था। यह सृष्टि शब्द से ही अस्तित्व में आई। सुरति (आत्मा) इस शब्द की डोर पकड़ कर आवागमन के चक्कर से छूट जाती है।

उन्होंने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के व्यावहारिक पक्ष की प्रस्तुति की। बिना किसी भेदभाव के उन्होंने मोक्ष का अधिकार मानवमात्र को दिला दिया। चाहे हिन्दू हो या मुसलमान अथवा किसी भी सम्प्रदाय का मानने वाला या किसी भी जाति का क्यों न हो, सबको उन्होंने कबीर पंथ में सम्मिलित किया और सभी को तत्त्वज्ञान देकर मुक्ति प्रदान की। हिन्दू-मुसलमान ने मन-प्राण से उनको चाहा। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी-अपनी रीति से उनका अन्तिम संस्कार भी किया और समाधि तथा मजार बनवाये। ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण संसार उनका अपना सुख-दु:ख था। वे शंकर के समान संसार के दु:ख-हलाहल को पी लेना चाहते थे और उसे अमृत बाँट देना चाहते थे। यही उन्होंने जीवन भर किया।

वे सत्यपुरुष के आदि-सन्देशी थे और मानव मात्र को काल के जाल से निकालना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने अपना जीवन लगा दिया। हर प्रकार से वे संसार को बोध प्रदान करते थे। उन्होंने लाखों जीवों को तत्त्वोपदेश देकर काल के जाल से मुक्त किया और संतमत सुझाया।

कबीर साहब ने अपनी रचनाओं में अनामी लोक तक का वर्णन किया है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे 'धुर घर' से आए थे और संतमत के प्रवर्तक एवं आदि सन्देशी थे–

"कहे कबीर हम 'धुर घर' भेदी,
लाए हुकुम हजूरी।"

यही नहीं, राधास्वामी मत की स्थापना होने का संकेत उन्होंने अपनी वाणी में पहले से ही दे दिया था–

कबीर धारा आगम की, सतगुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो, स्वामी संग मिलाय॥

राधास्वामी मत में भी उन्हें आदि-सन्देशी माना गया है। स्वामीजी महाराज फरमाते हैं :

साहब कबीर और तुलसी साहब,
दयालमाता इन आन चलाई।

"राधास्वामी खोल सुनाई,
मैं भी इन संग मेल मिलाई॥"
× × ×× × ×× × ×× × ×× ×
"कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।"

उक्त पद में कबीर साहब ने साधना की निम्नांकित भूमिकाओं का वर्णन किया है—

1. आधार चक्र (गुदा स्थान)—गणेश, 2. स्वाधिष्ठान चक्र (इन्द्री स्थान)—ब्रह्मा, 3.मणिपूरक चक्र (नाभि)—विष्णु, 4. अनाहत चक्र (हृदय)—शिव, 5. विशुद्ध चक्र (कण्ठ)—दुर्गा, 6. आज्ञा-चक्र (भ्रकुटि)—सुरति, 7. सहसदल कमल—अलख निरंजन, 8.त्रिकुटी—ओम्, 9. सुन्न—पारब्रह्म, 10. महासुन्न—(यहाँ चार शब्द और चार स्थान गुप्त हैं), 11. भंवरगुफा—सोंहपुरुष, 12. सत्तलोक—सत्यपुरुष, 13. अलख लोक—अलख पुरुष, 14. अगम लोक—अगम पुरुष, 15. अनामी लोक—अनामी पुरुष।

जीवों के उद्धार के लिए उन्होंने सुरत-शब्द अभ्यास का सरलतम मार्ग बताया जिससे सुरत (आत्मा) धुर धर तक पहुँच सकती है।

कबीर हिन्दू एवं मुसलमानों के ऐक्य विधायक हैं। वे दोनों की बुराइयों की आलोचना करते हैं तिस पर भी 'हिन्दू का गुरु, मुसलमान का पीर' कहे जाते हैं। ऐसा चमत्कारिक व्यक्तित्व संसार में बिरला ही मिलेगा। धर्माडम्बरों के वे कठोर आलोचक हैं—मूर्ति पूजा, माला फेरना, सिर मुड़वाना, लम्बे केश धारण करना, संन्यासी वेश, नमाज पढ़ना, व्रत रखना, तीर्थाटन, रोजा इत्यादि आडम्बरों की उन्होंने कटु आलोचना की है। उन्होंने ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रेम को अनिवार्य माना है। हिन्दू व मुसलमानों के अलग-अलग भगवान या खुदा नहीं है।

सामाजिक बुराइयों, जैसे—परनिन्दा, माँसाहार, मादक पदार्थ सेवन, जाति-पाँति का भेदभाव, आलस्य, व्यभिचार, वाचक-ज्ञान, कुसंग, कुबुद्धि, भिक्षाटन, अभिमान, ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह, आशा, तृष्णा एवं कपट की उन्होंने कटु आलोचना की है और सामाजिक सुख-शान्ति के लिए इनसे दूर रहने की शिक्षा दी है। व्यक्तित्व और समाज का निर्माण करने वाले नौ गुणों—शील, क्षमा, सन्तोष, धीरज, दीनता, दया, सत्य, विचार, विवेक को अपनाने का उन्होंने उपदेश दिया।

कबीर पंथ

सत्यपुरुष की आज्ञा के अनुसार कबीर साहब ने धर्मदासजी को जगाया, उन्हें सत्योपदेश दिया और चारों ओर दिशाओं के चार गुरु नियत किये। कबीर पंथ अंस और बंस इन दो प्रकार की गद्दियों के अनुशासन में चल रहा है। प्रथम वेगवती धार सत्यलोक से आकर जिस मानव रूप में ठेका लेती है, वह अंस कहलाता है और वह अंस जिसे जाग्रत करती है वह उसका बंस है। कबीर पंथ में अंस-बंस दोनों गद्दियों की बड़ी महत्ता है। इसके बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। अब तक धर्मदास और उनके वंश ही पृथ्वी पर प्रकट हुए हैं।

कबीर पंथ की स्थापना बाँधोगढ़ (रीवा) में हुई किन्तु पहले आचार्य मुक्तामणि नाम साहब कुधुरमाल चले आये। अत: यही स्थान कबीर पंथ की प्रथम छत्तीसगढ़ी शाखा है। इसकी

अनेक उपशाखाएँ मांडला, दामाखेड़ा और छरतपुर आदि स्थानों में हैं। छत्तीसगढ़ी शाखा से सम्बन्ध विच्छेद करके पृथक् मठ के रूप में स्थापित शाखाएँ 4 हैं—

(1) कबीर चौरा, जगदीशपुरी, (2) हर केसर मठ,
(3) कबीर निर्मय मन्दिर, बुरहानपुर, तथा (4) लक्ष्मीपुर मठ।

कबीर पंथ की द्वितीय प्रधान शाखा कबीर चौरा काशी है जिसकी उपशाखाएँ काशी के लहरतारा, बस्ती जिले के मगहर तथा कबीर बाग गया में हैं।

पंथ की मान्यतानुसार भेदी गुरु के पंथ दिखाने पर ही हंस (जीवात्मा) सत्यलोक को जाता है। दस स्थानों के चिन्ह भी गुरुओं से ही मिलते हैं। इन सब स्थानों के बीच में शून्य की डोरियाँ लगी हैं। जब तक पारखी गुरु नहीं मिलता, तब तक उन डोरियों की सुधि नहीं मिलती। सत्यपुरुष ने ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति के बाद स्वसंदेश कबीर साहब को दिया था। उस बीजक ज्ञान की कुछ बातें ही कबीर साहब ने कलयुग में प्रकट की हैं। कबीर पंथ में सतगुरु की भक्ति का उपदेश देता है। यह संसार काल देश है। काल पुरुष के जाल से सुर, नर, मुनि, पीर, औलिया, जोगी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवी-देवता आदि कोई भी न बच सके। वह तीनों लोकों का ठेकेदार है। सत्रह असंख चौकड़ी युग का उसका ठेका है। इतने समय तक कोई पारखी गुरु के बिना मुक्त नहीं हो सकता। यह ठेका पूरा हो जाने पर अक्षर पुरुष के राज्य का समय आयेगा। उस राज्य में समस्त जीवों के छुटकारे की आशा होगी। सत्य पुरुष के जो अंकुरी जीव हैं, सतगुरु की शिक्षा सुनकर दौड़कर उनसे मिलते हैं किन्तु कालपुरुष के जीवों पर उनकी शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कबीर पंथ की मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

(1) एक अविगत अद्वितीय ब्रह्म सत्य पुरुष की भक्ति करना।

(2) सत्य पुरुष और कबीर साहब एक ही हैं केवल नाममात्र का ही भेद है।

(3) अपने गुरु की सेवा तन-मन-धन से करना। साधु सेवा करना एवं सर्व चराचर जीवधारियों पर दया भाव रखना।

(4) प्रमुख त्याज्य बातें—मांसाहार, मदिरा, व्यभिचार, मूर्ति-पूजा, झूठ, चोरी, जुआ, यंत्र-मंत्र-तंत्रादि, अन्य देवताओं की पूजा, तीर्थ-व्रत, निन्दा, ईर्ष्या, वैमनस्य, छल-कपट, अभिमान, शाप एवं कुवचन, मूर्खता, शठता और विद्याहीनता।

(5) धारण करने योग्य बातें—सतगुरु भक्ति, श्वेत-स्वच्छ वस्त्र, तिलक, तुलसी की माला, सत्यनाम का जप-कीर्तन-भजन, सत्यपुरुष की भक्ति, स्वसंवेद अध्ययन, कबीर और उनकी गुरु परम्परा में विश्वास, पारख गुरु की शिक्षा, सार शब्द, समर्पण भावना, मुक्ति पंथ का अनुसरण, कबीर भक्ति, सतगुरु में विश्वास, ईश्वरीय भय, सच्चा प्रेम और उदारता, मौन, कबीर-वाणी का पाठ अहिंसा।

कबीर पंथ का मानव-धर्म को योगदान—कबीर पंथ मनुष्य की समानता पर बल देता है। वह जगन्नियंता को परमपिता और मानव को उसकी सन्तानें मानता है। इस प्रकार मनुष्य मात्र में भ्रातृत्व भाव को मान्यता देता है। यह सत्य, अहिंसा, शील, सन्तोष, परोपकार, प्रेम और सदाचार पर बल देता है तथा 'गेही में बैराग' के मानव-मात्र के लिए परम उपयोगी सिद्धान्त को व्यावहारिक स्वीकृति प्रदान करता है। सतगुरु भक्ति, सेवा, सत्संग और सुरति शब्द योग तो कबीर

पंथ का मेरुदण्ड ही है। कबीर पंथ का "पिण्डे सो ब्रह्माण्डे" सूत्रं की भी सुरत शब्द अभ्यास द्वारा व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करता है। यही कारण है कि उससे कई पंथ उदित्त हो गये।

कबीर साहब ने हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि धर्मों की अलग-अलग कोठरियों में बन्द मानव को मुक्त धरातल पर स्वतन्त्र चिन्तन प्रदान किया। उन्होंने सबसे पहले समाजवाद का नारा बुलन्द किया और मुगलकाल में ही 'साध सम्प्रदाय' के रूप में एक स्वतन्त्रता की चिनगारी लगा दी जिसने कालान्तर में राष्ट्रपिता गाँधी जैसे कालजयी व्यक्तित्वों के द्वारा सदियों की दासता से भारत को स्वतन्त्रता दिला दी। आज भी संत मत विश्व के लिए आलोक स्तम्भ बना हुआ है और उसकी मृतप्राय काया को नवजीवन देने के लिए संजीवनी का कार्य कर रहा है। नैसर्गिक धर्म के पावन स्वरूप को ढक लेने वाले कुरीतियों जैसे जाति-पांति का भेदभाव, मूर्ति-पूजा, छापा-तिलक, तीर्थाटन, ब्रह्माचारों, रूढ़िवादिता और विगलित मान्यताओं की संतमत ने इतनी कठोर आलोचना की कि जन-साधारण में एक नई विवेक बुद्धि जाग गई जिसके प्रकाश में वह बाह्याचारों की व्यर्थता की अनुभूति करने लगा और मानव धर्म की ओर आकृष्ट हो गया। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर का मानव धर्म कबीर साहब की ही देन है। इस प्रकार मानवता के पास जो स्वर्ण राशि विद्यमान है, वह संतमत की ही खान से निकली है।

●

20

गुरुनानक और सिक्ख धर्म

सिक्ख धर्म सिक्खों का धर्म कहा जाता है। इसका अभ्युदय मध्ययुग में हुआ। इसका प्रवर्तन महान संत श्री गुरुनानक देव जी ने किया। गुरुनानक देव जी का जन्म 15 अप्रैल, 1469 ई. को लाहौर से तीस मील दूर तलबण्डी नामक ग्राम में एक खत्री परिवार में हुआ था। आज इस स्थान को ननकाना साहिब कहते हैं और यह सिक्खों का पवित्र तीर्थ है।

गुरुनानक जी का आविर्भाव ऐसे समय हुआ, जबकि जनसाधारण धर्म के वास्तविक स्वरूप व प्रयोजन को भूलकर बाह्य मिथ्या आडम्बरों एवं अंधविश्वासों में भ्रमित था लेकिन समाज का एक विशिष्ट वर्ग जाग्रत हो रहा था ज़िसके मन में तरह-तरह के प्रश्न उठने लगे थे कि धार्मिक जीवन का सार क्या है ? उस सार को लोगों ने कैसे भुला दिया ? विश्वास का स्थान धार्मिक रीति-रिवाजों ने कैसे ले लिया ? धर्म पर पुरोहितों का एकमात्र आधिपत्य कैसे हो गया ? आदि-आदि। ऐसी ही जागरूकता की बेला में मुगलों के शासनकाल में भारतीय धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए भक्ति की लहर दक्षिण भारत से उद्भूत होकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रवाहित हो रही थी। मुस्लिम धर्म में सूफी संतों द्वारा भी ऐसी ही परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। इसी काल में गुरुनानक जी ने अपने प्रेमपूर्ण अमृतमय वचनों से भक्ति धारा को सम्पूर्ण पंजाब में प्रवाहित करते हुए परिवर्तन की प्रक्रिया को गति प्रदान की।

गुरुनानक देव बचपन से ही मूर्ति पूजा एवं धार्मिक रूढ़ियों के कट्टर विरोधी थे। ग्यारह वर्ष की आयु में आपने यज्ञोपवीत धारण करने से इन्कार कर दिया और पुरोहित से कहा कि दया रूपी कपास, संतोष रूपी सूत्र एवं संयम रूपी ग्रन्थि को सत्य में लपेटकर तैयार किया हुआ जनेऊ तुम्हारे पास हो तो मेरे गले में डाल दो। यही जीव के लिए उपयोगी है, क्योंकि यह न टूटता है, न मैला होता है, न जलाता है और न ही नष्ट होता है।

इक्कीस वर्ष की आयु में आपने पहला उपदेश सुनाया—"न कोई हिन्दू है न कोई मुसलमान। परमात्मा एक है और सब उसी परमात्मा के बच्चे हैं। इसलिए किसी में कोई भेद-भाव नहीं है। नित्य, अनन्त एवं सर्वव्यापक परमात्मा के प्रति अटूट श्रद्धा, प्रेम एवं समर्पण की भावना ही प्रत्येक धर्म का मूल है।"

सांसारिक क्रियाकलापों में गुरुनानक जी का चित्त नहीं रमता था। युवावस्था को प्राप्त होने पर भी उन्होंने धनोपार्जन के निमित्त किसी धन्धे के प्रति रुचि प्रकट नहीं की जिससे उनके पिता को चिन्ता होने लगी। नौकरी के प्रति उनकी अरुचि के विषय में जानकर उन्होंने नानक को

व्यापार के लिए कुछ रुपये दिये। नानक रुपये लेकर व्यापार के लिए घर से निकले। रास्ते में उन्हें कुछ साधु मिले जो भूखे थे, नानक ने उन रुपयों से भूखे साधुओं को भोजन करा दिया और घर लौट आये। पिता के द्वारा इस विषय में पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि मैं इससे अच्छा व्यापार नहीं कर सकता था।

गुरुनानक देव का उद्देश्य संसार त्यागकर संन्यासी बनना नहीं था, इसलिए 19 वर्ष की आयु में विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। आपके दो पुत्र भी हुए। जीविका निर्वाह के लिए बाद में आपने सुल्तानपुर के नवाब के यहाँ नौकरी की और मोदीखाने (अन्नागार) के अध्यक्ष पद का कार्य अत्यन्त कुशलतापूर्वक एवं ईमानदारी से किया।

एक बार गुरुनानक भ्रमण करते हुए हरिद्वार पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि भक्तगण गंगा में डुबकी लगाने के बाद पूरब की ओर मुख करके जल उछाल रहे हैं। कारण ज्ञात करने पर बताया गया कि यह जल पितरों तक पहुँचता है और इससे पितर प्रसन्न होते हैं। गुरुनानक देव ने स्वयं पश्चिम की ओर मुख करके जल उछालना प्रारम्भ किया। जिन लोगों ने उन्हें ऐसा करते देखा, उन्होंने उन्हें मूर्ख समझा और पूछा कि आप यह विपरीत कार्य क्यों कर रहे हैं ? इस पर गुरु नानकदेव ने कहा कि इस ओर लाहौर में मेरा खेत है, मैं उसे सींचने के लिए यह जल उछाल रहा हूँ। लोग हँसने लगे और कहने लगे कि भला इस जल से लाहौर का खेत कैसे सिंच सकता है ? इस पर गुरु नानकदेव ने कहा कि जब आपका जल पितरों के निवास स्थल तक जा सकता है, तब मेरा जल लाहौर के खेत तक कैसे नहीं जा सकता ?

नानकजी ने मुसलमान युवक मरदाना को अपना साथी बनाया। मरदाना बहुत अच्छा संगीतकार था। वह रबाब नामक वाद्य-यंत्र बजाने में सिद्धहस्त था। श्री नानकदेव जी ने उनके साथ संसार से धर्म सम्बन्धी अज्ञानता एवं अंधविश्वास को मिटाने के लिए सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यात्राएँ करके ईश्वर के सच्चे संदेश को मधुर एवं भाव प्रवण गीतों के रूपों में सर्वत्र प्रसारित किया।

गुरु नानकदेव जी ने पंजाब में एक ऐसे समाज को विकसित किया जो जाति-भेद एवं ऊँच-नीच की भावना से रहित था। संसार में व्याप्त धर्मान्धता एवं अन्ध-विश्वास के विरुद्ध आपने सिक्ख धर्म को खड़ा किया जो हिन्दू धर्म में व्याप्त ऊँच-नीच की भावना को समाप्त कर दे तथा अन्य धर्मों के साथ समभाव की प्रेरणा भी प्रदान करे। गुरु नानकदेव की दृष्टि में सच्चा गुरु, परम शिक्षक वही है जो सबको एक-दूसरे के साथ जोड़ दे, सबके अन्तस् से घृणा को मिटा दे।

गुरु नानकदेव की उत्कृष्ट कोटि की दार्शनिक कृति 'जपुजी' हैं सृष्टि, परमात्मा, मोक्ष एवं शब्द तत्त्वों पर सूत्रात्मक विवेचन करते हुए आपने इसमें माया के आवरण का भेदन करके, बाह्य (दिखावटी) भेषों की निरर्थकता सिद्ध करते हुए सत्य के मार्ग को प्रकाशित किया है।

गुरु नानकदेव की शिक्षाओं के अनुसार परमात्मा एक है, उसका नाम सत है क्योंकि वह सत्य है अर्थात् उसकी सत्ता है। सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता है, वह सर्वव्यापक है और कालातीत है, समस्त चेतनाओं का मूल होते हुए भी निराकार है, वह कभी अवतार नहीं लेता, न ही किसी मूर्ति में समा सकता है। जैसे चिनगारी आग का अंश है, वैसे ही प्रत्येक आत्मा परमात्मा का अंश है और नित्य है। संसार की छोटी से छोटी घटना अथवा क्रिया परमात्मा की इच्छा अथवा मौज़ (हुकुम) के आधीन है।

परमात्मा स्वयं हमारे शरीर में रहता है किन्तु 'हउमै' अर्थात् मैं हूँ—यह भावना मनुष्य को उसका ज्ञान नहीं होने देती। सत् नाम का जप करने से 'हउमै' की भावना क्षीण होती है किन्तु वाणी के द्वारा केवल नाम का उच्चारण करना ही पर्याप्त नहीं हैं नाम के स्मरण से सर्वाधिक लाभ उसी को होता है जिसके विचार व भावनाएँ पवित्र होती हैं और जो शुद्ध अन्तःकरण से शुभ कर्मों को सम्पादित करता है।

तीर्थ, व्रत, पूजा एवं दानादि की सार्थकता मन की निर्मलता पर निर्भर है। परमेश्वर में आत्मा के लीन होने को मोक्ष कहते हैं। प्रतीकात्मक रूप में जैसे पानी पानी में मिल जाता है या ज्योति ज्योति में लीन हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा में लीन होकर मुक्त हो जाती है।

गुरुनानक का विचार था कि गुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगाने के लिए सिद्ध आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता होती है जिसने साधना द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को पूर्णतः जगाकर परमात्मा से एकता प्राप्त कर ली हो। ऐसे गुरु में विश्वास रखकर एवं उसके बताये मार्ग पर चलकर ही व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से छूट सकता है और परमात्मा से एकता प्राप्त हो सकती है।

गुरुनानक की दृष्टि में परमात्मा की 'नदर' (नजर) अर्थात् कृपादृष्टि का विशेष महत्त्व है। गुरुग्रन्थसाहिब में इसके लिए दया, मेहर, प्रसार एवं कृपा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। ईश्वर की दया यानी मेहरबानी के योग्य अपने आपको बनाना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। यह तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति का मन पूरी तरह से नियन्त्रण में हो और हृदय भक्ति भाव एवं दीनता से परिपूर्ण हो तथा परमात्मा के प्रति पूर्ण समपर्ण की भावना हो। सिक्ख धर्म के अनुसार सद्गुरु, सत्य खण्ड व सत्य नाम का महत्त्व अपार है। जो गुरु की भक्ति कर गुरुमुख बन जाता है, वह घट के अन्दर अनाहद शब्द को सुनकर नौखण्डों को पार करके दसम द्वार से होकर सत्य खण्ड या सत्य देश में पहुँच जाता है।

जब गुरु नानकदेव वृद्ध हो गये, तब उन्होंने धर्म शिक्षा के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए अपने शिष्यों एवं भक्तों मे से 'लहिणा' को उत्तराधिकारी के रूप में चुना और गुरु गद्दी पर बिठाने से पहले 'लहिणा' को अंगद का नाम दिया। अपने आपको पूर्णतया गुरु की इच्छा पर छोड़कर तथा नम्रता एवं आज्ञा पालन के गुणों से अंगद ने पूर्ण अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर ली थी।। इसलिए गुरुनानक ने अपने पुत्रों को छोड़कर उसमें अपना प्रकाश भर दिया।

गुरु अंगददेव (1504-1552 ई.)—ई. में आप गुरु पद पर अधिष्ठित हुए। गुरुमुखी लिपि आपने ही चलाई। गुरु नानक की पहली जनमसाखी आपने ही गुरुमुखी लिपि में लिखवाई। आप स्वयं कवि थे। आपकी कविताएँ शुद्ध पंजाबी भाषा में श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में सुरक्षित हैं। लंगर प्रथा का प्रारम्भ आपने किया। लंगर का तात्पर्य है वह भोजन-घर जहाँ सभी वर्ग के लोग इकट्ठे बैठकर भोजन करते हैं। लंगर भ्रातृत्व, समानता और नम्रता का पाठ पढ़ाता है।

गुरु अमरदास (1479-1574 ई.)—सिक्ख धर्म के व्यापक सुधार के लिए आपने भारतवर्ष के अनेक भागों में बाइस मंजियाँ (प्रचार मण्डल) स्थापित कीं तथा पहले दोनों गुरुओं की वाणी का संग्रह दो खण्डों में तैयार करवाया।.

गुरु रामदास (1534-1581 ई.)—आपने अमृतसर जैसा महान धार्मिक एवं सांस्कृतिक नगर बसाया और सब प्रकार के नागरिक आपकी ही प्रेरणा से यहाँ बसे। आप प्रेम व नम्रता की साकार मूर्ति थे तथा मनुष्य जाति की सेवा को ही सच्चा धर्म मानते थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा

है कि सच्चे सिक्ख को सुबह उठकर अमृत के सरोवर में स्नान करके मालिक के नाम का जाप करना चाहिए तथा हर पल, हर सांस में मालिक को याद करना चाहिए।

गुरु अर्जुनदेव (1563-1606 ई.)—आप गुरु रामदास के तीन पुत्रों में सबसे छोटे थे। आपने अमृतसर में 'हरमन्दिर' (परमात्मा का मन्दिर) का निर्माण कराया तथा आदि ग्रन्थ 'गुरुग्रन्थसाहिब' का सम्पादन किया। ग्ररुग्रन्थसाहिब में सिक्ख गुरुओं की वाणी के अतिरिक्त कबीर, रविदास त्रिलोचन एवं नामदेव जैसे प्रसिद्ध संतों की वाणियाँ भी संकलित की गईं। अर्जुनदेव जी ने हिन्दु और मुसलमान, दोनों धर्मों के महान संतों की वाणी के संग्रह रूप आदिग्रन्थ को 'हरमन्दिर' के अन्दर प्रतिष्ठित किया तथा मन्दिर के चारों दरवाजों को सामान्य जनता के लिए बिना किसी जाति-भेद के खोल दिया।

जहाँगीर के शासन काल में जहाँगीर से डरकर भागे हुए राजकुमार खुर्रम को गुरुजी ने शरण दी जिससे जहाँगीर ने उन्हें बन्दी बनाकर स्वधर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया किन्तु गुरुजी घोर शारीरिक यातना को सहकर भी उसी प्रकार जीवन धर्म पर अड़े रहे जिस प्रकार हजरत यीशु क्रूस की दारुण वेदना को सहकर भी विचलित नहीं हुए। कठोर यातना के फलस्वरूप 1606 ई. में शरीर बंधन से मुक्त हो गये। अर्जुनदेवजी को प्रथम बलिदानी माना जाता है। इनमें भक्ति और शक्ति का अपूर्व संयोग था। श्रेष्ठ धर्म का प्रतिपादन करते हुए कहा है—"सरब धरम महि स्त्रेसर धरमु। हरि को नामु जपि निरमल करमु।"

गुरु हरगोविन्द (1595-1644 ई.)—आप गुरु अर्जुनदेव जी के पुत्र थे। मुसलमान शासकों में बढ़ती हुई असहिष्णुता का सामना करने के लिए आपने गुरु गद्दी पर आसीन होते समय दो कृपाण धारण किये और घोषणा करवाई कि एक कृपाण आध्यात्मिक पक्ष को सूचित करता है और दूसरा सांसारिक पक्ष को। आपने सिक्खों के हृदय में सैनिक भावना का संचार किया और उन्हें सिपाही बनाना प्रारम्भ कर दिया।

गुरु हरराय (1630-1661 ई.)—आप हरगोविन्द जी के पौत्र थे। आपने पूर्व परम्परा को आगे बढ़ाया।

गुरु हरकृष्ण (1656-1664 ई.)—आप गुरु हरराय के छोटे पुत्र थे। मात्र पाँच वर्ष की आयु में गद्दी पर आसीन होकर कार्यभार को गहरी समझ-बूझ के साथ सम्भाला। आठ वर्ष की अल्पायु में चेचक के प्रकोप से शरीर छोड़ना पड़ा।

गुरु तेगबहादुर (1621-1675 ई.)—आप गुरु हरगोविन्द के सबसे छोटे पुत्र थे। काश्मीर के पण्डितों की प्रार्थना एवं दुःखी जनता की असमर्थता के विषय में जानकर औरंगजेब को समझाने के लिए जो जबर्दस्ती हिन्दुओं को मुसलमान बना रहा था, आप दिल्ली पहुँचे। वहाँ उन्हें औरंगजेब के आदेश से चाँदनी चौक में कत्ल कर दिया गया गुरुजी के इस बलिदान से सम्पूर्ण भारत में आक्रोश की ज्वाला धधक उठी।

गुरु गोविन्दसिंह (1666-1708 ई.)—सिक्ख पंथ के दस गुरुओं मेंआप अन्तिम गुरु हैं। मात्र नौ वर्ष की आयु में आपने सिक्खों के धर्म गुरु पद को तथा गुरु नानकदेव के धर्म को सर्वत्र प्रचारित करने एवं सुदृढ़ बनाने के उत्तरदायित्व को कुशलतापूर्वक सम्भाला। शस्त्र रखना, घुड़सवारी करना तथा धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत दिनचर्या तो गुरु गोविन्दसिंह जी के समय से ही सिक्ख समाज का अंग बन चुके थे, अब उन्हें सुव्यवस्थित करने के लिए तथा नूतन

प्राणसंचार के लिए अपने वीर रस से परिपूर्ण साहित्य की रचना की। 'दशमग्रन्थ' नाम से आपकी कृतियाँ संगृहीत हैं। 'अकाल स्तुति', 'चण्डी दी वार' एवं 'ज्ञानप्रबोध' आदि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

भारतीय समाज की तत्कालीन समस्याओं के निदान एवं अत्याचारियों के दमन को समाप्त करने के लिए गुरु गोविन्दसिंह के पास सुस्पष्ट कार्यक्रम था। अपने कार्यों के द्वारा उन्होंने सिद्ध कर दिया कि ईश्वर ने उन्हें संतों के सत्वगुण की रक्षा के साथ-साथ धर्म की संस्थापना एवं दुष्टों के विनाश के लिए भेजा है। गुरु गोविन्दसिंह जी ने तलवार को ईश्वर का प्रतीक माना है।

सन् 1699 में आनन्दपुर में वैशाखी मेले के अवसर पर भक्तों की सभा में अचानक भीड़ को ललकार कर आप बोले कि मुझे एक सिर चाहिए। सब चौंक उठे और सन्नाटा व्याप्त हो गया। फिर एक व्यक्ति ने हाँ कर दी। गुरुजी उसे पास के तम्बू में ले गये और तलवार के प्रहार के स्वर के साथ रक्त की धारा तम्बू के नीचे से बह चली। भक्तगण किंकर्त्तव्यविमूढ़ से हो गये। रक्त से लाल तलवार को लिए हुए गुरुजी बाहर आये और पुनः एक सिर की माँग की। यह सुनते ही लोग भयभीत होकर वहाँ से खिसकने लगे किन्तु एक व्यक्ति ने हाँ कर दी। पुनः वही क्रम दुहराया गया और वह तब तक होता रहा जब तक पाँच व्यक्ति तम्बू के अन्दर न हो गये। तत्पश्चात् गुरुजी ने तम्बू खोल दिया। उसको देखकर लोग दंग रह गये। अन्दर पाँच बकरों के सिर कटे हुए थे तथा पाँचों व्यक्ति सुरक्षित थे। गुरु गोविन्दसिंह ने उन्हें 'पाँच प्यारों' की उपाधि से अलंकृत करके सम्मानित किया। उन्हें सुन्दर वस्त्र पहनाकर तथा अमृतपान कराकर 'खालसा पंथ' की स्थापना की। उन पाँचों प्यारों के नाम के अन्त में 'सिंह' शब्द लगाया और उन्हें खालसा के पाँच चिन्हों केश, कंघा, कड़ा, कच्छा और कृपाण को धारण करने का उपदेश दिया गया। तत्पश्चात् पाँच प्यारों के द्वारा तैयार किये गये अमृत का पान करके स्वयं भी खालसा पंथ में सम्मिलित हो गये। इन पाँच प्यारों में से एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय व तीन शूद्र थे, किन्तु खालसा पंथ में दीक्षित करके उन्हें समानता दे दी गई। गुरु गोविन्दसिंह ने पंजाब के कृषक वर्ग को सैनिक उत्साह से परिपूर्ण वीर योद्धाओं के रूप में संगठित किया।

मुगलों की विशाल सेना के समक्ष सिक्खों की भारी पराजय हुई। युद्ध में गुरुजी के दोनों पुत्र शहीद हो गये तथा गोविन्दसिंह जी को दक्षिण में आश्रय लेना पड़ा, जहाँ अपने उद्देश्यों के लिए आत्म बलिदान करना पड़ा। माना जाता है कि गुरु गोविन्दसिंह ने अपने अन्त समय में सिक्ख धर्म में जीवित गुरुओं की परम्परा समाप्त करते हुए कहा कि श्री गुरु ग्रन्थसाहिब में संगृहीत वाणी ही मेरे बाद गुरु होगी। जिज्ञासा होती है कि गुरु नानक से प्रारम्भ होकर अनवरत चली आ रही गुरु परम्परा अचानक समाप्त करने की आवश्यकता क्यों पड़ी, जबकि गुरु नानकदेव एवं अन्य गुरुओं ने आध्यात्मिक विकास के लिए जीवित गुरु के अस्तित्व को अत्यन्त महत्वपूर्ण और अनिवार्य माना है।

सिक्ख भाई वस्तुतः समय के सतगुरु की आवश्यकता में भी विश्वास रखते हैं परन्तु गुरु गोविन्दसिंह जी के गुप्त होने के बाद ऐसा कोई व्यक्ति सिक्ख सम्प्रदाय में प्रकट नहीं हुआ जिसके नेतृत्व को सभी ने एक मत से स्वीकार कर लिया हो, इसीलिए उनमें भिन्न-भिन्न मत स्थापित हो गये। कुछ लोग बाबा बन्दा को, कुछ बालकसिंह को, कुछ पाँच प्यारों को और कुछ 'श्री ग्रन्थसाहिब' को समय का सतगुरु स्वीकार करते हैं।

सिक्ख धर्म वस्तुतः कोई रूढ़ि नहीं, जीने का एक ढंग है। इसीलिए बदलती हुई परिस्थिति में गुरु अर्जुनदेव ने बलिदान की प्रथम नींव रक्खी और सिक्ख समाज संत सिपाही के रूप को लेकर अवतरित हुआ और सिद्धान्त तथा क्रिया का सामंजस्य करते हुए भारत के इतिहास को पलट दिया।

परमात्मा के नाम का स्मरण, मेहनत की कमाई पर जीविका निर्वाह तथा स्वोपार्जित वस्तुओं को जरूरतमन्द व्यक्तियों में बाँटकर खाना—ये तीन, सिक्ख जीवन के प्रमुख सिद्धान्त हैं।

मुख्य रूप से सिक्ख तीन सम्प्रदायों में विभाजित हैं—(1) उदासी साधु सम्प्रदाय (2) सहजधारी—जो पंच चिन्हों को धारण नहीं करते परन्तु और सभी बातों में सिक्ख सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और (3) निहङ्ग गहरे नीले रंग का लम्बा कुर्ता और घुटनों से ऊपर तक का कच्छा पहनते हैं तथा सदैव कृपाण साथ में रखते हैं।

●

21

राधास्वामी मत

राधास्वामी मत संत मत की श्रृंखला में सर्वोच्च स्थान पर है। उसकी स्थापना परम पुरुष पूरन धनी हुजूर स्वामीजी महाराज ने 15 फरवरी सन् 1861 ई. बसंत पंचमी के शुभ दिन सतसंग आम जारी करके की।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं विकास

राधास्वामी मत की स्थापना परम पुरुष पूरन धनी हुजूर स्वामीजी महाराज (श्री शिवदयाल सिंह जी) ने की थी। आपका जन्म 24 अगस्त, 1818 ई. कृष्णाष्टमी के दिन पन्नी गली, आगरा में एक मध्यम वर्गीय खत्री परिवार में हुआ था। आपके पिता जी सेठ दिलवाली सिंह साहब गुरुनानक साहब के अनुयायी थे। परन्तु बाद में वे हाथरस वाले तुलसी साहब के शिष्य हो गये। उन्हीं से आपके माता-पिता को ज्ञात हुआ कि उनके घर में परम संत ने जन्म लिया है। स्वामीजी महाराज की शिक्षा पाँच वर्ष की आयु में ही प्रारम्भ हुई और वे छः-सात वर्ष की आयु में ही अन्तरी अभ्यास करने लगे और उच्चतम परमार्थ को समझाने लगे। सब लोग उनसे उच्च चैतन्य मण्डलों के रहस्य को सुनकर अत्यधिक प्रभावित होते थे। आपको विभिन्न भाषाओं, जैसे—संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी में विशेष योग्यता प्राप्त थी। आपका विवाह फरीदाबाद वाले श्री इज्जतराय जी की सुपुत्री नारायणी देवी जी से सम्पन्न हुआ जो बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। वह अपना अधिकांश समय स्वामीजी जी महाराज का सतसंग करने और साधु सत्संगियों की सेवा करने में बिताती थीं। लोग उनको राधाजी के नाम से जानते थे।

परमगुरु स्वामीजी महाराज का कोई गुरु नहीं था और न किसी से उन्होंने परमार्थ का उपदेश लिया था। वे स्वयं अपने अनुभवों से ज्ञानी साधु लोगों को समझाते थे। करीब पन्द्रह वर्ष की आयु में आपने मकान के एक कोठे में सुरत शब्द योग का अभ्यास दो-तीन रोज तक लगातार किया। ऐसा वह अक्सर किया करते थे। उनके सत्संग में आने वाले सब लोग उनकी आध्यात्मिकता से प्रभावित होते थे। अपने विशिष्ट शिष्य राय सालिगराम साहब (महाराज) जो राधा-स्वामी धर्म के दूसरे सतगुरु हैं, की प्रार्थना को मंजूर करके आपने 15 फरवरी, सन् 1861 ई. बसंत पंचमी के शुभ दिन राधास्वामी सत्संग को आम जनता के लिए प्रगट किया एवं संत सतगुरु रूप धारण कर अपना पवित्र संदेश महादुःख भोगेते हुए और भ्रम-जाल में फँसे अधिकारी जीवों के उद्धार के निमित्त दिया। आपने अपने निज स्थान राधास्वामी धाम एवं उसकी प्राप्ति की युक्ति सुरत शब्द योग का रहस्य बताया। जीवों को परामर्श दिया गया कि वे संत सतगुरु के चरण कमल में प्रीति

करें, क्योंकि कलियुग में मन को निश्चल और निर्मल करके ऊँचे मण्डलों में चढ़ाने का और कोई निश्चित उपाय नहीं है। ऐसे अभ्यासी जन बीच के सब स्थानों को पार करके अपने संतों की दया से निज देश में पहुँच सकते हैं।

सतसंग आम जारी करने के बाद दिन में कई बार सतसंग होता था। वे अपने उपदेशों को शब्दों के रूप में भी देते थे और व्याख्यान भी देते थे जो बाद में 'सार वचन' पद्य भाग व गद्य भाग में प्रकाशित हुए।

उपदेश

उनके उपदेशों का सार इस प्रकार था—1. सुमिरन—पवित्र राधास्वामी नाम का जाप आत्मा के स्थान पर, (2) ध्यान—पवित्र संत सद्गुरु के स्वरूप का ध्यान सुरत के स्थान पर और (3) भजन—चैतन्य शक्ति की धारा से निकलते अनाहत शब्दों का सुरत के कानों से अपने-अपने स्थान पर श्रवण करना। (4) सेवा—संत सतगुरु और मानव मात्र की करना। (5) सतसंग—**वक्त के संत सतगुरु के सतसंग में सम्मिलित होना। इनके अतिरिक्त मांसाहार और मद्य** सेवन का पूर्ण निषेध करना एवं राधास्वामी नाम ही सत पुरुष का निज नाम है एवं वही समस्त सृष्टि के कर्ता हैं, इस तथ्य पर पूर्ण विश्वास रखना।

दयालबाग़ का पूर्वाभाग

सतसंगियों की संख्या बढ़ जाने तथा पन्नी गली में भिक्षुओं का आना-जाना अधिक हो जाने से आपने नगर के शोर-गुल से दूर शान्त स्थान में रहने के लिए वर्तमान स्वामीबाग़ के स्थल पर निवास ग्रहण किया। यहाँ से प्रातःकालीन सैर के लिए मुगल कुएँ के पास जाते थे जो अब दयालबाग़ में है। कहा जाता है कि स्वामी जी ने फरमाया था कि किसी समय इस कुएँ के निकट सतसंगियों का एक बड़ा नगर बसेगा।

इसी समय स्वामी दयानन्द सरस्वती जी, जो आर्य समाज के संस्थापक थे, ने स्वामीबाग़ में आकर परम गुरु स्वामी जी महाराज से चर्चा की और उपदेश भी ले लिया। वे अपने गुरु से अनुज्ञा लेकर हिन्दू समाज के सुधार करने के काम में मग्न हुए। स्वामी जी महाराज ने 15 जून, 1878 ई. को निज धाम वापसी की मौज फरमाई। उन्होंने अपने अन्तिम सन्देश में यह स्पष्ट किया कि "कोई सतसंगी घबराये नहीं, उनकी देखभाल अधिक से अधिक होगी"

परम गुरु हुज़ूर महाराज (राय सालिगराम साहब)—आप पोस्टमास्टर जनरल थे, राधास्वामी मत के दूसरे आचार्य हुए। आपका जन्म 14 मार्च, 1829 ई. को पीपलमण्डी, आगरा के एक सम्मानित कायस्थ परिवार में हुआ था। हुज़ूर महाराज ने अल्पायु में ही फारसी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् आपने सीनियर केम्ब्रिज पास करके तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा आध्यात्म विद्या का अध्ययन किया। अपने सेवाकाल में आपने ज्योतिष शास्त्र का भी अध्ययन किया और एक ज्योतिष की पुस्तक का फारसी में अनुवाद किया। आपने पोस्टल डिपार्टमेंट में विशिष्ट सेवा की।

सेवा का अनुपम आदर्श

परम गुरु हुज़ूर महाराज ने नवम्बर 1858 ई. में परम गुरु स्वामी जी महाराज से उपदेश ग्रहण किया। तत्पश्चात् पहले प्रति रविवार को फिर हर दूसरे दिन और इसके बाद प्रतिदिन ओर

अन्त में अपने दफ्तर के समय और कुछ घंटे घर पर आराम करने के अतिरिक्त पूरा समय अपने गुरु महाराज के सतसंग और सेवा में बिताते रहे। आप आदर्श शिष्य थे जिन्होंने स्वामी जी महाराज की सेवा तन-मन-धन और आत्मा से की। हाथों से शारीरिक सेवा की, मन से पूर्णतः गुरु 1878 में संत सतगुरु होने पर आपने सतसंगी साधुओं का प्रबन्ध पूर्ववत् चलाया तथा पूज्य राधाजी का सम्मान स्थापित रखा एवं सतसंग व्यवस्था को अधिक प्रभावी बनाया। जब आप इलाहाबाद में थे तो कई यूरोपीय अफसर आपसे धार्मिक मुद्दों पर बहस करने आते। आप उनको धर्म के तर्क व दर्शन एवं वैज्ञानिक स्पष्टीकरण से इतना प्रभावित कर देते थे कि उन्हें आपमें परम पिता के दर्शन होते थे। प्रसिद्ध विद्वान **मैक्समूलर** लिखते हैं—"उनकी अनन्य भक्ति और सेवा का आदर्श बहुत उच्च था। उन्होंने लोकलाज और कुल की मर्यादा को त्यागकर गुरु महाराज की तन-मन-धन एवं आत्मा से सेवा की।" गुरु महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करके आप लौकिक कर्त्तव्यों का पालन करते रहे। कोई उनके घर की बत्ती भी जलती हुई देख लेता तो प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अधिक प्राणायाम करने से बेहोश हुए रोगी आपके दर्शन मात्र से ही ठीक हो जाते थे।

हुज़ूर महाराज का सत्संग दिन में पाँच बार होता था। चौबीस घण्टों में से तीन या चार घण्टों के विभिन्न विश्राम के अतिरिक्त आप अपना पूरा समय भक्तों की समस्याओं का समाधान करने तथा सत्संग, वचन-वाणी में व्यतीत करते थे। आपने विभिन्न नगरों व ग्रामों में ब्रांच सत्संग स्थापित करने की आज्ञा प्रदान की।

साहित्य

आपने आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना करके गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों को सरल व सरस बना दिया। आपका साहित्य एवं गद्य दोनों रूपों में है। एक पाक्षिक समाचार पत्र (प्रेम पत्र) जो पाँच वर्ष तक चला, में आपके वचन छपा करते थे। बाद में इन वचनों का संकलन और प्रकाशन 'प्रेम पत्र' शीर्षक ग्रन्थ के रूप में छः भागों में किया गया। हुज़ूर महाराज ने अत्यन्त भक्ति-भावपूर्ण शब्दों की रचना की जो 'प्रेम बानी' के नाम से चार भागों में प्रकाशित हुए। आपके अन्य ग्रन्थ 'राधास्वामी मत उपदेश', 'सार उपदेश', 'प्रेम उपदेश', 'प्रश्नोत्तर' और 'जुगत प्रकाश' हैं। ये सभी ग्रन्थ हिन्दी भाषा में लिखे राधास्वामी मत के सिद्धान्तों के सार को स्पष्ट करते हैं। 'पिलग्रिम्स पाथ' और 'राधास्वामी मत प्रकाश' ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में लिखे गये हैं।

हुज़ूर महाराज का समय भारतीय इतिहास में स्वतन्त्रता संग्राम व विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों का काल होने के कारण विशेष महत्त्व रखता है। हुज़ूर महाराज ने 1898 ई. में पं. ब्रह्म शंकर मिश्र (महाराज साहब) को अपना उत्तराधिकारी घोषित करके निज धाम जाने की मौज फरमाई।

परम गुरु महाराज साहब (श्री ब्रह्म शंकर मिश्र)—आप राधास्वामी मत के तृतीय आचार्य हुए। आपका जन्म 28 मार्च, 1861 को बनारस के एक सम्मानित ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इने पिता पं. रामजशन मिश्र संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। ब्राह्मण होते हुए भी आपके पिताजी इतने उदार विचार के थे कि उन्होंने पटना के एक मुस्लिम फकीर सैयद साहब को अपना गुरु माना। सैयद साहब ने उन्हें बतलाया था कि उनके चार पुत्र हों जिनमें सबसे छोटे (महाराज साहब) एक महान सन्त होंगे। महाराज साहब ने अंग्रेजी में एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। नवम्बर 1885 में जब हुज़ूर महाराज बनारस पधारे, तब महाराज साहब ने पहली बार उनके दर्शन

किये और उनसे उपदेश भी लिया। उपदेश लेने के एक वर्ष बाद ही हुजूर महाराज ने महाराज साहब को अपने पत्रों के समाधान के कार्य में लगा लिया। दिसम्बर 1898 में सन्त सतगुरु होने के समय आपकी उम्र केवल 37 वर्ष थी। आपने सतसंग की व्यवस्था के लिए सेण्ट्रल एडमिनिस्ट्रेटिव काउन्सिल और राधास्वामी ट्रस्ट की स्थापना की तथा ब्रांच सत्संग के भी नियम बनवाये। आपने अपने पुत्रों के अन्तर्जातीय विवाह किये। आपने अंग्रेजी जानने वाले जिज्ञासुओं के लिए राधास्वामी धर्म की वैज्ञानिक विवेचना ''डिस्कोर्सेज ऑन राधास्वामी फेथ'' ग्रन्थ में की। महाराज साहब ने यह भी सूचित किया कि सतसंगियों को स्वावलम्बी बनाने के लिए सतसंग में कृषि एवं कारखानों की व्यवस्था की जायेगी और सत्संग की अपनी यूनिवर्सिटी भी बन जायेगी। परम गुरु स्वामीजी महाराज की समाधि के निर्माण का कार्य बड़े पैमाने में करने का प्रयत्न किया। देश-विदेश के सतसंगी घर बैठे केन्द्रीय सतसंग का लाभ उठा सकें और गुरु महाराज का दर्शन कर सकें और वचन सुन सकें, इस हेतु आकाशवाणी और दूरदर्शन का भी पूर्वाभ्यास दिया।

इनके समय में सतसंग केन्द्र ज्यादातर बनारस रहा। आपने यह स्पष्ट किया कि राधास्वामी धर्म में कोई गुप्त संत नहीं होंगे। इन्होंने 12 अक्टूबर, 1907 को निज-धाम वापसी की मौज फरमाई।

परम गुरु सरकार साहब (श्री कामता प्रसाद सिन्हा जी)—आप राधास्वामी मत के चौथे आचार्य हुए। आपका जन्म 12 दिसम्बर, 1871 को मुरार में एक श्रीवास्तव कायस्थ परिवार में हुआ। इनके पिताजी राय कुलवन्त प्रसाद सिन्हा सब-जज थे। हुजूर सरकार साहब बचपन में तीव्र बुद्धि एवं अद्‌भुत समझ-बूझ के थे और उनकी स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक थी। वे शतरंज के अच्छे खिलाड़ी भी थे। बी. ए., एल. एल. बी. करके आप एक सुप्रसिद्ध वकील बन गये। इन्होंने 1891 में इलाहाबाद में परमगुरु महाराज साहब से उपदेश लिया था। उपदेश लेते ही आपके विचार और व्यवहार में परिवर्तन आ गया। एक बार जब महाराज साहब आगरा में परमगुरु हुजूर महाराज के दरबार में सत्संग के लिए गये, तब सरकार साहब भी उनके साथ थे। महाराज साहब ने सरकार साहब को प्रस्तुत करते हुए कहा—''हुजूर, मैं एक अमूल्य भेंट आपके चरण कमलों में पेश करता हूँ'' इस पर हुजूर महाराज ने उन पर प्रेम से भरपूर दृष्टि डालते हुए फरमाया ''तो आप आ ही गये।'' अपनी अगली उपस्थिति में सरकार साहब ने अपनी प्रसिद्ध प्रार्थना ''हे संतन सरताज कृपाला'' लिखकर हुजूर महाराज के सामने मधुर स्वर में गाकर सुनाई। आप जब संत सतगुरु हुए तो सत्संग केन्द्र गाजीपुर में बनाया गया। यह प्रार्थना प्रेम समाचार पत्रिका में छापी गई। उन्होंने अपनी ''परमगुरु परमपितु'' प्रार्थना में यह स्पष्ट किया कि निज गुरुधार तब तक वापस नहीं जायेगी जब तक पूर्ण सृष्टि का उद्धार नहीं हो जायेगा। राधास्वामी सतसंग सभा की स्थापना करके सतसंग का संगठन 1910 में किया जायेगा। आपने 7 दिसम्बर, 1913 को निजधाम वापसी की मौज फरमाई। परमगुरु साहब जी महाराज इनके उत्तराधिकारी हुए।

परमगुरु साहबजी महाराज (सर आनन्द स्वरूप साहब)—आप राधास्वामी मत के पंचम आचार्य थे। आपका जन्म 6 अगस्त, 1881 को अम्बाला में एक मध्यमवर्गीय अहलूवालिया परिवार में हुआ था। बाल्यकाल में ही साहब जी महाराज शान्त प्रकृति के थे। वे दृढ़ प्रतिज्ञा एवं स्वतन्त्र विचार वाले व्यक्ति थे। उन्हें एकान्त बहुत पसन्द था। आर्य समाज के प्रभाव में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। वेद और उपनिषद् पढ़ने के लिए वे अपने मित्र के साथ घर पर बिना बताये नासिक गये, जहाँ वेद पढ़ाये जाते थे। बाद में तारघर में सेवारत हो गये। दफ्तर के समय के अतिरिक्त सम्पूर्ण समय आप धर्मग्रन्थों के अध्ययन में बिताते थे। आप सच्चे गुरु की तलाश में थे। आपको स्वप्न में महाराज साहब के दर्शन हुए और उपदेश भी मिला। बाद में वे गाजीपुर में सरकार साहब के सतसंग में जाने लगे। जब 1912 में आपका तबादला आगरा हो गया, तब परमगुरु सरकार साहब ने उनसे कहा था कि ''तुम आगे चलो, हम वहीं आते हैं और फरमाया कि सतसंग केन्द्र आगरा में बनाना है। समय आ गया है कि सतसंग आगे बढ़े।''

केन्द्रीय सत्संग की स्थापना

साहब जी महाराज ने दयालबाग़ की नींव 20 जनवरी, 1915 को बसन्त पंचमी के शुभ दिन शहतूत का पेड़ लगाकर डाली। इसी पुण्य तिथि को सत्संग आम भी जारी हुआ था। दयालबाग़ की स्थापना के उद्देश्य ये हैं—

1. राधास्वामी मत के परमपूज्य आचार्यों की आज्ञाओं का पालन करने हेतु यह कॉलोनी स्थापित की गई है।

2. राधास्वामी मत के अनुसार प्रत्येक सत्संगी पसीने की कमाई पर निर्भर हो, ताकि वह सफलतापूर्वक आध्यात्मिक अभ्यास कर सके। सत्संगियों को रोजगार देने के लिए इण्डस्ट्रीज स्थापित की गई, ताकि वे ईमानदारी से जीविकोपार्जन कर सकें।

3. बहुत-से सत्संगी दयालबाग़ में परमार्थ हेतु रहना चाहते हैं। वे सुस्त व बेकार न बैठें इसलिए अनिवार्य हो गया कि उनको जीविकोपार्जन का साधन मिले।

4. जब लोग एक स्थान पर रहते हैं तो उनको शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता होती है। अतः दयालबाग़ में शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की गईं।

5. भारत को तकनीकी शिक्षा प्राप्त नागरिकों की आवश्यकता है। अतः इस प्रकार के कालेज इत्यादि स्थापित किये गये।

साहब जी महाराज का कहना है कि राष्ट्रों का उत्थान व पतन निर्भर करता है उनमें योग्य और विशेष प्रतिभाशाली व्यक्तियों के होने या न होने पर। ऐसी प्रतिभाशाली आत्माएँ वहाँ जन्म लेती हैं जहाँ उनको अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु सुविधाएँ उपलब्ध हों। अतः दयालबाग़ में भारत के अनुकूल विशुद्ध एवं पवित्र आध्यात्मिक वातावरण रखने एवं साथ ही साथ कार्य के लिए पश्चिमी देशों जैसी स्वतन्त्रता एवं सुविधाएँ देने का प्रयास है।

15 नवम्बर, 1916 से केन्द्रीय सत्संग यहाँ प्रारम्भ हुआ। 1 जनवरी, 1917 को राधास्वामी एजूकेशनल इंस्टीट्यूट और अक्टूबर, 1917 में मॉडल इण्डस्ट्रीज स्थापित हुई। 1919 में राजा बरारी एक स्टेट खरीदी गई। वहाँ आदिवासियों की उन्नति के लिए कार्यक्रम स्वीकृत किया गया। दयालबाग़ में एक डिसपेन्सरी स्थापित की गई। आर. ई. आई. का विकास होते हुए 1930 तक चार अन्य स्कूलों की स्थापना की गयी—प्राइमरी, मिडिल, हाईस्कूल व इण्टर स्कूल, लड़कियों का अलग विद्यालय—प्रेम विद्यालय। 1927 में टेक्नीकल कॉलेज तथा 1930 में लैदर वर्किंग स्कूल स्थापित हुए। इस विस्तार के साथ-साथ कॉलोनी की सुव्यवस्था के लिए शिरामणि नगर कमेटी 1917 में ही बना दी गयी। साथ ही सत्संगियों के निवास हेतु घर बनाने की स्वीकृति दी गयी।

इस प्रकार योजनाबद्ध दयालबाग़ एक आत्मनिर्भर आदर्श आश्रम के रूप में विकसित होता गया।

विदेशी, भारतीय, सरकारी, गैर-सरकारी जो भी यहाँ आता, प्रभावित हुए बिना न रहता। साहब जी महाराज अपने आध्यात्मिक विचार और हिन्दू जाति का सुधार करने के उपाय व्यक्त करने को भारत के विभिन्न भागों में महत्त्वपूर्ण सभाओं में निमन्त्रित होते थे। इस प्रकार देश-विदेश में दयालबाग़ 'Indian Utopia' के नाम से जाना जाने लगा। ब्रिटिश सरकार ने साहब जी महाराज को 'Knighthood Sir' की उपाधि से विभूषित किया।

साहित्य

साहब जी महाराज की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। 'प्रेम विलास' के रसीले शब्दों में उन्नत आध्यात्मिक अनुभवों की रसमय अभिव्यक्ति है। परम गुरु महाराज साहब के "Discourses on Radhasoami Faith" का हिन्दी में अनुवाद 'अमृत वचन' किया गया जिसमें सृष्टि के मौलिक आधार एवं स्वरूप का वैज्ञानिक परन्तु सरल एवं स्पष्ट विवेचन है। 'सतसंग के उपेदश' तीन भागों में सतसंग के स्वार्थी और परमार्थी कार्यक्रम के विषयों को आधुनिक नीति से विश्लेषण करके समझाया।

भगवद्गीता के उपदेशों के सार भी हिन्दी व उर्दू में प्रस्तुत किये। आपके चार हिन्दी ड्रामा हैं—'स्वराज्य', 'सरन आश्रम का सपूत', 'दीन व दुनियाँ' और 'संसार चक्र' जिनमें उच्च साहित्यिक ढंग से सतसंग के आदर्शों का स्पष्टीकरण किया गया है। स्वराज्य ड्रामा में संसार की असारता तथा धर्म की छाया में अनैतिक आडम्बरों के पनपने की व्याख्या बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया गया है कि 'Aris Demo' अर्थात् Aristocratic Democracy के आदर्श को व्यवहार में लाने से ही सच्चा स्वराज्य सम्भव है। 'दीन व दुनियाँ' ड्रामा में समझाया गया है कि दीन अर्थात् परमार्थ के मार्ग पर चलने के लिए दुनियाँ ही में रहना होगा। जब तक दुनियाँ में रहें, दुनियाँ से उतना ही सम्बन्ध रक्खें जितना गुजारे के लिए जरूरी हो। दीन के मार्ग पर सफलतापूर्वक चलने के लिए हृदय की शुद्धता तथा सांसारिक इच्छाओं का दमन अनिवार्य है। 'सरन आश्रम का सपूत' ड्रामे के नायक प्रेम बिहारी के माध्यम से सुपरमैन—अर्थात् 'अति मानव' का मूर्त रूप प्रस्तुत किया गया है। प्रेम बिहारी तथा उसकी बहिन शोभावन्ती को यतीम (अनाथ) दशा में सतसंग ने पाला, पढ़ाया व रोजगार में लगाया। इन दोनों बालकों ने अनन्य भक्ति के साथ जीवन पर्यन्त अपनी सेवाओं को सतसंग को अर्पित कर सतसंग व मानव जाति की सेवा में संलग्न रहकर सच्चे सतसंगी का आदर्श प्रस्तुत किया। 'संसार चक्र' में—संसार सत्य है या असत्य इस प्रकार का उत्तर बड़े ही रोचक ढंग से दिया गया है। संसार में प्रचलित आडम्बर तथा अनैतिकता का स्वरूप दिखाते हुए स्पष्ट किया गया है कि संसार तो संसार ही है। मानव उसे अपने अधीन न समझे वरन् उससे निर्लिप्त रहकर उसका तमाशा देखे। यह दिव्य चक्षु खुलने पर ही सम्भव है। दिव्य चक्षु आध्यात्मिक अनुभव से ही खुलते हैं। मानव इच्छाएँ न उठाएँ। मालिक की मौज पर प्रसन्न व सन्तुष्ट रहें। आपने अपनी डायरी एवं 'Table Talk' में प्रतिदिन जो विशिष्ट कार्य या समस्याएँ प्रस्तुत होती थीं, उनका संक्षिप्त विवरण दिया है। आपका 'यथार्थ प्रकाश' धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण कृति है। 'जिज्ञासा', 'राधास्वामी मत दर्शन', 'प्रेम संदेश', 'जतन

प्रकाश' आदि आपके अन्य ग्रन्थों में परमार्थ के खोजी की शंकाओं एवं दुविधाओं का समाधान है। आप केवल हृदय से ही नहीं, शरीर से भी अत्यन्त कोमल थे। 25 वर्ष तक अथक परिश्रम से आपका स्वास्थ्य जर्जर हो चुका था। अत: स्वास्थ्य लाभ हेतु आप मद्रास के निकट कोरतालम गये और वापसी में मद्रास के समुद्र तट पर 24 जून, 1937 को अपने निजधाम पधारने की मौज फरमाई।

परमगुरु मेता जी महाराज

परमगुरु मेहता जी महाराज (राय साहब गुरुचरण दास मेहताजी साहब)—आप राधास्वामी मत के छठे आचार्य हुए। आपका जन्म 20 दिसम्बर, 1885 ई. को पंजाब के कस्बा बटाला में एक सामान्य खत्री परिवार में हुआ। आपके पूज्य पिताजी लाला आत्माराम साहब उस समय वहाँ मुन्सिफ थे। वह सतसंगी थे। बाल्यकाल से ही आपकी विलक्षण बुद्धि से सब प्रभावित होते थे। हुजूर महाराज ने आपका नाम हरचरण से बदलकर गुरुचरण दास रखा था। आपने 1909 में रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज से अन्तिम परीक्षा कीर्तिमान सहित पास की। आप पंजाब में पी. डब्ल्यू. डी. रोड्स विभाग में नियुक्त हुए और कार्यवाहक चीफ इन्जीनियर पी. डब्ल्यू. डी. और सेक्रेटरी पंजाब सरकार के पद पर नियुक्त हुए। 1935 में आपको राय साहब की उपाधि मिली। जून 1937 को आप हुजूर साहब जी महाराज के बाद राधास्वामी मत के छठे आचार्य हुए।

सत्संग में साम्यवाद

दयालबाग़ में औद्योगिक विकास द्वारा सतसंगियों ने बेरोजगारी को दूर किया। कृषि के विकास एवं विस्तार द्वारा 'अधिक उन्न उपजाओ' योजना को व्यावहारिक रूप देकर श्रम की महत्ता स्थापित की। सतसंगियों में सामाजिक समस्याओं को अन्तर्जातीय और अन्तप्रान्तीय विवाहों को प्रोत्साहित करके दूर किया। दहेज प्रथा को बन्द किया, विवाह में खर्चे की सीमा निर्धारित की, बच्चों की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। स्त्री शिक्षा, इन्जीनियरिंग शिक्षा, विज्ञान आदि को भी प्रोत्साहन दिया। इनके समय में कृषि को प्रोत्साहन मिला और उसका विस्तार किया गया। देश के सभी प्रान्तों में भ्रमण करके सतसंगियों में अनुशासन व्यवस्था को स्थापित किया। 'Economic Organising Advisor' के रूप में आपने 'Waste Nothing' का उपदेश दिया एवं उचित अर्थव्यवस्था और मितव्ययता का सबक सिखाया। आपके अनुसार वैयक्तिक मितव्ययता से ही पारिवारिक मितव्ययता, सामाजिक मितव्ययता, राष्ट्रीय मितव्ययता और अन्तर्राष्ट्रीय मितव्ययता आती है। उनके अनुसार Economy या मितव्ययता का पालन प्रत्येक विषय में करना चाहिए। अपनी चेतन शक्ति को भी यथासम्भव कम खर्च करके अपनी आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ जाना चाहिए। कोयम्बटूर में एक आम सभा को सम्बोधित करते हुए आपने 'Better World Order' की चर्चा की।

"विश्व के लोग सुखी जीवन व्यतीत कर सकें तथा देश में एकता व मेल का सम्बध कायम हो सके, इसके लिए जरूरी है कि हम एक-दूसरे को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के सब विषयों में यानी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतक व अन्य प्रकार के विचार व विश्वास रखने में पूरी स्वतन्त्रता दें हमको कभी किसी से इस आधार पर नफरत नहीं करनी चाहिए कि हमारा और उसका दृष्टिकोण एक नहीं है या वह किसी विषय पर अपनी पसंद के अनुसार अपने विचार प्रकट

करता है। जीवन की आवश्यकताओं से स्वतन्त्रता और निश्चितता प्राप्त करने के सम्बन्ध में अतयन्त आवश्यक है कि हर आदमी के पास खाने-पीने और पहनने के लिए काफी चीजें मौजूद हों और प्रत्येक मनुष्य को इस बात का पूरा और बराबर मौका मिले कि जिससे वह उचित दशा में उन्नति करने के योग्य हो सके, वह पूरी उन्नति कर सके और अपने को पूर्ण मनुष्य बना सकें वास्तव में, इसी कार्यक्षेत्र में लोगों को विशेष रूप से एक दूसरे से मिलने, सहयोग करने व नजदीक आने का अधिक अवसर मिलता है। दूसरे क्षेत्रों में मिलने-जुलने की ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं हो सकती, इसलिए वे इन बातों में न केवल अपने साथियों और मिलने वालों की ही सहायता कर सकते हैं बल्कि सरकार को भी मदद दे सकते हैं क्योंकि हमारी ऐसी कोशिश दान व बख्शिश के दायरे में आ जावेगी।''

जनवरी 1956 में पंडित जवाहर लाल नेहरू दयालबाग़ आये और इस आश्रम के पवित्र जीवन से प्रभावित हुए। अपने भाषण में उन्होंने कहा, ''देश उन्नति करते हैं अपने विस्तार के बल पर नहीं वरन् उनकी उन्नति निर्भर करती है उनकी जनता की जीवन शैली पर तथा जनता के चरित्र पर, उनके हाथों के कौशल व प्रवीणता पर, उनकी बुद्धिमानी पर, जिससे वह काम करते हैं। यदि भारत प्रगति करेगा तो इसी कारण कि (दयालबाग के जनजीवन पर इंगित करते हुए) ऐसे लोग यहाँ निवास करते हैं। इसलिए नहीं कि भारत की जनसंख्या 36 करोड़ है। यही बात मुझे दयालबाग़ आने की प्रसन्नता दे रही है। मुझे विश्वास है कि आपका काम हर प्रकार से समुन्नत होगा।'' मेहता जी महाराज का संत सतगुरु काल सब से लम्बा व कठोर परिश्रम का काल था। आपने तन, मन व धर्म सर्वस्व सतसंग को अर्पित करके संत सतगुरु के अपरिमित त्याग का आदर्श प्रस्तुत किया। 17 फरवरी, 1975 को आपने निजधाम वापसी की मौज फरमाई।

परमगुरु डॉ. लाल साहब (डॉ. मकुन्द बिहारी लाल साहब)

परमगुरु डॉ. मकुन्द बिहारी लाल साहब राधास्वामी मत के सातवें आचार्य हुये। 1975 में परमगुरु हुजूर मेहताजी महाराज के प्रस्थान के बाद हुजूर डॉ. लाल साहब ने राधास्वामी सत्सङ्ग की बागडोर सम्भाली। परमगुरु डॉ. मकुन्द बिहारी लाल का जन्म 31 जनवरी 1907 को बिस्वाँ जिला सीतापुर में हुआ। 1924 में उन्होंने क्रिश्चियन कॉलेज लखनऊ ये यू. पी. बोर्ड ऑफ हाईस्कूल व इण्टरमीडिएट एजूकेशन की इण्टर की परीक्षा की। 1926 में लखनऊ वि. वि. से स्नातक तथा 1928 में प्राणिविज्ञान में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर एम. एस. सी. की डिग्री प्राप्त की। 1929 में डॉ. लाल साहब ने वहीं प्राणिविज्ञान विभाग में डेमान्स्ट्रेटर के पद पर कार्य प्रारम्भ किया। 1937 में लखनऊ वि. वि. से उन्हें ट्रीमेटोड पैसाइट्स ऑफ बर्ड्स विषय पर डॉक्टर ऑफ सांइस की उपाधि से अलंकृत किया गया। 1938 में आप लखनऊ वि. वि. में लेक्चरर पद पर नियुक्त हुए। 1947 में एडिनबरा विश्वविद्यालय न उन्हें उनके शोध विषय 'स्टडीज ऑफ लार्वल हेलमिन्थस विद ऑबजर्वेशन ऑन दि इन-विट्रो बिहेवियर ऑफ एकेन्थोसिफैला' पर डी. एस-सी. की उपाधि से सम्मानित किया। 1948 में आप रीडर पद पर नियुक्त हुए और 1954 में आपने प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पद को सुशोभित किया। अपने शैक्षिक कार्यकाल के समय डॉ. लाल साहब ने यूनाइटेड किंगडम, आयरलैण्ड और कई यूरोपीय देशों तथा यू. एस. ए. की यात्राएँ कीं। आपने अनेकों राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान-सम्मेलनों की अध्यक्षता की। 1955 में रोम में सम्पन्न इण्टर नेशनल यूनियन ऑफ बायलॉजिकल साइन्सेस तथा 1960 में लन्दन में रॉयल

सोसाइटी की तीसरी शताब्दी समारोह में डॉ. लाल साहब ने भारत का प्रतिनिधित्व किया। आप 1958 में लन्दन इण्टरनेशनल कांग्रेस ऑफ जुलोजी के उपाध्यक्ष, 1962 में कॉर्नेल और फिलाडेलफिया में इण्टरनेशनल कांग्रेस ऑफ हिस्ट्री ऑफ साइन्सेस के खुले अधिवेशन के अध्यक्ष और 1957 में इंडियन साइन्स कांग्रेस के जुलौजी और एटोमौलौजी सैक्शन के अध्यक्ष रहे। जून 1967 में सेवानिवृत्त होने के बाद लखनऊ से आप दयालबाग़ आ गए किन्तु उन्हें पुन: लखनऊ जाना पड़ा क्योंकि वे प्रदेश के राज्यपाल द्वारा 1968 में तीन वर्ष के लिए लखनऊ विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त किये गये।

डॉ. लाल साहब 1956 में राधास्वामी सत्सङ्ग सभा के सदस्य निर्वाचित हुए थे। 1971 में जब दयालबाग़ में दयालबाग़ एजूकेशनल इन्स्टीट्यूट (डी. ई. आई) गठित किया गया तब आप उसके अवैतनिक निदेशक हुए। आपके द्वारा यू. जी. सी. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को बहुआयामी, मूल्य आधारित एवं कार्यानुभव आधारित शिक्षा प्रणाली की योजना प्रस्तुत की गई। परिणामत: 16 मई, 1981 को तीन कॉलेजों राधास्वामी एजूकेशनल इन्स्टीट्यूट, वीमेन्स ट्रेनिंग कॉलेज और इन्जीनियरिंग कॉलेज को एकीकृत करके डी. ई. आई. को डीम्ड यूनीवर्सिटी का दर्जा दिया गया।

27 वर्षों तक परमगुरु डॉ. लाल साहब ने सत्सङ्ग के इतिहास में एक स्वर्णिम काल का निर्माण किया और उसकी बहुमुखी प्रगति के कर्णधार रहे। देश में स्थान-स्थन पर सत्सङ्ग कॉलोनियों की स्थापना, सहकारिता के आधार पर उत्पादन का विकेन्द्रीकरण सत्सङ्ग ब्राँचों के कार्यकलापों का पुनर्गठन, युवा वर्ग को दिशा व नवचेतना प्रदान कर उनका कायाकल्प कना बालकों एवं बाल विद्यार्थियों को विशेषरूप से स्नेह प्रदान करना इत्यादि उनकी प्रेरणादायक शक्ति के उदाहरण हैं। असंख्य सत्सङ्गियों द्वारा इन दयाल की आध्यात्मिक दया व मेहर का अनुभव किया गया। आपका दरबार सत्सङ्गियों की परमार्थी एवं व्यावहारिक समस्याओं में सहायता प्राप्त करने के लिए सदैव खुला रहता था। परमगुरु डॉ. लाल साहब ने बृहस्पतिवार 5 दिसम्बर, 2002 को प्रात: काल लगभग 5 बजे निजधाम प्रस्थान करने की मौज फरमाई।

दिसम्बर 2002 के पश्चात– 18 मई 2003 को परमपूज्य हुजूर प्रोफेसर प्रेमसरन सतसंगी साहब राधास्वामी मत के आठवें आचार्य उद्घोषित हुए। आपका जन्म 9 मार्च 1937 में वाराणसी में हुआ। आपने 1957 में बी. एच. यू. से बी.एस.सी. इंजीनियरिंग (इलेक्ट्रिकल) की डिग्री प्राप्त की। 1966 में आपको कैनेडियन कॉमनवेल्थ फेलोशिप प्रदान की गई और 1969 में वाटरलू यूनीवर्सिटी, कनाडा ने उनके डिजरटेशन A Physical System Theory Modelling Framework Generalised for Large scale Economic systems के लिए पी-एच. डी. की उपाधि से अलंकृत किया। 1972 में आप एसोसिएट प्रोफेसर और 1973 में इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग के प्रोफेसर नियुक्त हुए और आई. आई. टी. दिल्ली में हैड ऑफ डिपार्टमेंट, डीनटण्डर ग्रेजूएट स्टडीज, डीन इंडस्ट्रियल आर एण्ड डी व फाउन्डेशन फॉर इनोवेशन एण्ड टैक्नॉलॉजी ट्रान्सफर के मैनेजिंग डायरेक्टर सहित अनेक महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर रहते हुए 28 वर्षों से अधिक सेवा की। प्रोफेसर सतसंगी साहब अभियांत्रिकी संकाय, डी. ई. आई में तीन बार विजिटिंग प्रोफेसर रहे। 13 मई, 1993 को आई. आई. टी. दिल्ली से ऐच्छिक रिटायरमेंट लेने के बाद 14 मई, 1993 से 8 मार्च 2002 तक डी. ई. आई. (डीम्ड) यूनीवर्सिटी के डायरेक्टर रहे। प्रोफेसर सतसंगी साहब अप्लाइड सिस्टम्स इंजीनियरिंग (जिसमें सोशियोएकोनॉमिक सिस्टम्स, ट्रान्सपोर्ट

सिस्टम्स आदि सम्मिलित हैं) के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान हैं एवं सिस्टम्स सोसाइटी ऑफ इण्डिया के प्रतिष्ठाता हैं।

आपके द्वारा उत्साह एवं अधिक प्रयत्न से आगे बढ़कर, स्वयं आदर्श प्रस्तुत कर परमगुरु साहब जी महाराज के 'सुपरमैन' के स्वप्न को साकार कने का सतत् प्रयास शैक्षिक कार्यक्रम द्वारा रोजगार परक शिक्षा पर बल देकर, व्यावहारिक दिनचर्या द्वारा क्रियात्मक रूप देकर किया जा रहा है। आपके अनुसार छात्रों का धर्म और सुखों का मर्म अध्ययन, सेवा और व्यायाम है एवं सत्संगी जनों के समस्त दु:खों एवं रोगों का इलाज सत्संग सेवा और अभ्यास से है। लौकिक मितव्ययता ही पारलौकिक मितव्ययता की वाचक है और परमार्थ प्राप्ति में सहायक है। अब दूरगामी शिक्षा प्रणाली द्वारा सतसंग-संस्कृति एवं परमगुरु डॉ. लाल साहब द्वारा प्रकल्पित नई शिक्षा नीति के विस्तार एवं विकेन्द्रीकरण की योजना है।

राधास्वामी मत का दर्शन व उपदेश : व्यष्टि और समष्टि

राधास्वामी मत के अनुसार रचना में तीन विभाग होते हैं। सबसे ऊँचा निर्मल चेतन देश है जहाँ निर्मल चेतना ही है। उसके नीचे ब्रह्माण्ड है जहाँ चेतन शक्ति और निर्मल माया सम्मिलित है लेकिन चेतनता की प्रधानता है। यह निर्मल माया देश भी कहलता है। सबसे नीचे पिण्ड देश हे जो चेतनता और माया की मिलावट है और माया प्रधान होता हैं इसलिए इसको मलिन माया देश भी कहते हैं। मानव का शरीर, रचना (Macrocosm) का एक पूर्ण नमूना है जिसको (Microcosm) कहते हैं। रचना समष्टि सृष्टि है और मनुष्य शरीर व्यष्टि सृष्टि है। मनुष्य शरीर में सारी रचना से सम्बन्ध रखने का इन्तजाम मौजूद है। मानव का स्थूल शरीर पिण्ड से और मन ब्रह्माण्ड से और आत्मा निर्मल चेतन मण्डल से सम्बन्धित है। मानव शरीर में इनके मण्डल और लोकों में जाने के लिए द्वार भी रखे गये हैं। जीवात्मा चेतन भण्डार परमात्मा का अंश है जो आदि कर्म की वजह से नीचे लोकों में आ बसी है। मानव शरीर को पाकर अपने चेतन मण्डलों में जाने के द्वारों को खोकर निज देश में पहुँचना इसका ध्येय है। मानव को चेतावनी देकर ऊँचे मण्डलों का रहस्य व भेद बताकर उनको अपने निज घर की ओर ले जाने के लिए पवित्र आत्माएँ इस दुनियाँ में जन्म लेती रही हैं और जीव की आत्मिक उन्नति करती रही हैं। परम पुरुष पूरन धनी हुजूर राधास्वामी जी दयाल जो कुल मालिक हैं नररूप में अवतरित हुए। परम गुरु स्वामी जी महाराज के रूप में संत सतगुरु होकर उन्होंने जीवकल्याण का रास्ता खोल दिया। यह संत सतगुरु की धारा जीव कल्याण कार्य को पूरा करने तक एक एक के बाद एक संत सतगुरु के पवित्र शरीर में मौजूद होकर अना कार्यक्रम चलाती रहेगी। रचना के तीनों मण्डलों में से सम्बन्धित मानव शरीर में छ: विभाग हैं—गुदाचक्र, इन्द्रीचक्र, नाभिचक्र, हृदय चक्र, कण्ठ चक्र, आज्ञा चक्र। ये छ: चक्र स्थूल शरीर में और इनसे सम्बन्धित लोक पिण्ड देश में हैं। इसके परे ब्रह्माण्ड है जहाँ शिवलोक, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, विराट, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत ब्रह्म हैं।

मानव शरीर में इनसे सम्बधित द्वार जो कमल कहलाते हैं, सिर के 'Grey matter' में दोनों खण्डों के बीच की पंक्ति में हैं। इनमें तीन ऊँचे द्वार सहस्र दल कमली, त्रिकुटी और सुन्न कहलाते हैं। इसके पर निर्मल चेतन देश में भँवर गुफा, सत्तलोक, अनामी, अलख, अगम और राधास्वामी धाम हैं। उन लोकों में पहुँचने के द्वार मस्तिष्क के 'White matter' दोनों खण्डों के बीच की लाइन में होते हैं।

सुरत शब्द अभ्यास का वैज्ञानिक आधार

यह मत सिखलाता है कि जैसे संसार की भौतिक शक्तियाँ केन्द्र से फैलकर वृत्त क्रिया क्षेत्र में काम करती हैं, इसी तरह सुरत भी अपने केन्द्र से जो दिमाग के एक खास स्थान में स्थित है, चैतन्य धारों के द्वारा अपने वस्तु अर्थात् मनुष्य शरीर में फैलकर काम करती हैं। चूँकि यह एक साधारण नियम है कि हर शक्ति की धार के साथ-साथ एक ध्वनि अर्थात् शब्द की धार भी जारी रहती है और हर शब्द की धार में अपने भण्डार के गुण मौजूद रहते हैं इसलिए चैतन्य धारों के साथ भी ऐसे चैतन्य शब्द की धार जारी रहती है जिसमें उसके भंडार के गुण मौजूद होते हैं सुरत का विशेष गुण प्रेम है जो केन्द्र की ओर आकर्षण का रूप है। इसलिए जब किसी अभ्यासी के घट में चैतन्य शब्द प्रकट होता है तो उसे तत्काली प्रबल अन्तरी आकर्षण के रुख से सुरत व मन उस केन्द्र पर सिमट आते हैं और उसकी तवज्जुह (Attention) सब तरफ से हटकर चैतन्य केन्द्र पर जम जाती है। इस प्रकार अभ्यासी का मन संसार के नाम व रूपों से आजाद होकर व आध्यात्मिक शक्ति के जग जाने पर कुछ स्थित हो जाता है और वह चैतन्य स्थानों की ओर कदम बढ़ा सकता है। इस मत से चैतन्य स्थानों की ओर कदम बढ़ाने के लिए ऊँचे दरजे के चैतन्य शब्दों से सहायता ली जाती है जिनका भेद विस्तारपूर्वक अनुयायी हो शब्द अभ्यास की युक्ति बतलाने के वक्त समझा दिया जाता है।

राधास्वामी नाम ध्वन्यात्मक अनहद शब्द

'राधा' नाम आदि सुरत चैतन्य धारा का है जो आदि शब्द 'स्वामी' चेतन भण्डार में से निकली है। जब यह आदि सुरत की धार 'राधा' अपने प्रियतम 'स्वामी' की ओर आकर्षित होती है तो 'राधास्वामी' शब्द गूँजता है। यह शब्द सबसे ऊँचे चैतन्य मण्डलें जो कुल मालिक का धाम है, प्रति पल गूँज रहा है। रचना से पहले चैतन्य शक्ति अपने केन्द्र में गुप्त थी। इसी को शून्य समाधि की अवस्था कहते हैं। धीरे-धीरे एक समय आया जब कुल मालिक अर्थात् चैतन्य शक्ति के भण्डार में हिलोर होने पर आदि चैतन्य धार प्रकट हुई। चूँकि शक्ति के प्रत्येक आविर्भाव के साथ-साथ एक शब्द प्रकट होता है इसलिए भण्डार की हिलोर से 'स्वामी' शब्द और आदि चैतन्य धारा से 'राधा' शब्द प्रकट हुआ। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि रचना का कार्य आरम्भ होने पर अर्थात् चैतन्य शक्ति के गुप्त अवस्था से प्रकट रूप धारण करने पर कुल मालिक से आदि शब्द प्रकट हुआ जिसे मनुष्य की बोली में उच्चारण करने पर 'राधास्वामी' शब्द बनता है। इसी कारण यह नाम कुल मालिक का निज नाम माना जाता है।

सतगुरु वक्त की आवश्यकता

राधास्वामी सतसंग में वक़्त सतगुरु को महत्त्व देते हैं। मनुष्य की आध्यात्मिक शक्तियों को जगाने के लिए अनुभवी गुरु का निर्देशन व सहायता अनिवार्य है। उन्हीं के पथ-प्रदर्शन में मनुष्य मात्र अपना स्वार्थ और परमार्थ निभा सकता है और जीवन कल्याण सम्पन्न कर सकता है। राधास्वामी मत के अनुसार संत सतगुरु के दो रूप हैं—बाहर का नर स्वरूप और आन्तरिक शब्द स्वरूप। उस पवित्र शब्द के द्वारा ही वे पवित्र आत्मा में इस लोक में आते हैं और जीवों को आसरा देकर उसी के द्वारा निज धाम में पहुँचाते हैं। इसलिए शब्द ही सतगुरु हैं और सतगुरु ही धर्म।

सतसंगी अति मानव (Super Man) का अर्थ

नवम्बर 1933 में परम गुरु हुजूर साहब जी महाराज ने सुपरमैन, अति मानव या सतसंगी, आदिमानव की व्याख्या करते हुए समझाया था कि प्रकृति ने जीवों की उच्च से उच्चतम कोटि की योनियाँ रचने में विशेष परिश्रम किया। अन्त में मानव योनि जो सर्वश्रेष्ठ है, को रचा। तत्पश्चात् मानव का उत्तम रूप विकसित किया। अन्ततः इस विकास क्रम में विशिष्टता (Specialisation) एवं विभिन्नता (Differentiation) की प्रवृत्ति के प्रकटीकरण से मानव समाज में चार श्रेणियों का (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) उदय हुआ। यह विभिन्नीकरण विश्व के सब देशों में विकसित है जो विद्वत्जन, योद्धा, व्यापारी या उत्पादक एवं सेवक इन चार श्रेणियों के रूप में मिलता है। अब प्रकृति मानव को अति मानव अर्थात् सुपर मैन—सतसंगी के रूप में विकसित करना चाहती है जिसमें चारों मानव श्रेणियों या वर्णों के गुण समष्टि रूप में विद्यमान हों अर्थात्—ब्राह्मण की तरह वह यम-नियमों से अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करे, ताकि उच्चतम आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति कर सके। शिष्टता एवं नम्रता से अपना ज्ञान दूसरों को प्रदान कर समाज को लाभान्वित करे। एक वीर क्षत्रिय की भाँति निर्भय होकर साहसपूर्वक निर्बलों की रक्षा करे। चाहे वह मित्र हों अथवा शत्रु, उनके संरक्षण में प्राणों की बलि देने से भी न चूके। सच्चे वैश्य जैसा सच्चाई से जीविकोपार्जन करें। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करें और जरूरतमन्दों की भलाई में धन व्यय करें। आदर्श शूद्र की तरह निःस्वार्थ सेवा को अपना धर्म मानकर परिश्रम व प्रसन्नतापूर्वक दूसरों की सेवा तथा सहायता करे।

सत्संगी की जीवन शैली

सतसंगी की जीवन शैली की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया गया है कि वह व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन में संयम से रहे, अनावश्यक सांसारिक इच्छाएँ न उठाए, ताकि उसकी आध्यात्मिक शक्ति क्षीण न होने पाये और न ही उसकी शक्ति का अपव्यय हो। उसका मानसिक सन्तुलन न बिगड़ने पाये। अपनी ईमानदारी की कमाई पर गुजर करे। राधास्वामी दयाल को ही कुल मालिक व सृष्टिकर्ता माने तथा सात्विक आहार ले।

सत्संगी की आचार संहिता

राधास्वामी मत की आचार संहिता अत्यन्त सरल किन्तु गम्भीर है। दूसरों के प्रति वही भावना व व्यवहार रखे जो आप चाहते हैं कि दूसरे आपके प्रति रखें। अशुभ कर्म या पाप कर्म वह काम है जो मानव के परम गति (मुक्ति) प्राप्त करने में बाधक हो और उसको परम पिता से विमुख करे या मालिक के प्रति उदासीन बना दे। शुभ कार्य या पुण्य कर्म वह है जो मानव को परम गति प्राप्त करने में सहायक हो। मालिक की याद निरन्तर बनाये रखने में सहायक हो और मालिक से एकता प्राप्त करने को प्रेरित करे। अपने स्वार्थ को दृष्टिगत न रखकर दूसरों को सुख पहुँचाने के कर्म करने से मालिक की खास दया प्राप्त होती है।

सत्संगी सभ्यता एवं आदर्श

राधास्वामी धर्म अपने वक़्त के संत सद्गुरुओं के निरीक्षण में इस दुनियाँ में एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करने में लगा है जो संसार में शान्ति स्थापित करने में समर्थ हो और मानवता का कल्याण और उद्धार करने में भी समर्थ हो।

चीन का एज्यूकेशनल मिशन 1943 में दयालबाग़ आया। मिशन के समक्ष हुज़ूर मेहता जी महाराज ने राधास्वामी धर्म एवं दयालबाग़ के उद्देश्यों को इन शब्दों में स्पष्ट किया था—

"पिछले कई वर्षों से दार्शनिक और राजनीतिज्ञ यह अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान पश्चिमी वैज्ञानिक सभ्यता (Western Scientific Civilisation) और पूर्वी सभ्यता और संस्कृति (Eastern Civilisation and Culture) और पुराने समय के विश्वास और ऊँचे सिद्धान्तों के बीच एक प्रकार का संघर्ष जारी है। भारत के अन्दर यह योग्यता मौजूद है कि वर्तमान संसार के जो उत्तम गुण हैं और विज्ञान की जो उत्तम व अनुकरणीय बातें हैं, इनको बड़े पैमाने पर ग्रहण कर अपने अन्दर स्थापित कर सकता है। इस दृष्टि से दयालबाग़ का उद्देश्य यह है कि वह संसार के सामने पूर्वी व पश्चिमी सभ्यताओं का एकीकरण (Integration) उपस्थित करे और यदि मालिक की मर्जी शामिले हाल रही तो इस बात की उसे पूर्ण आशा है कि पूर्व व पश्चिम के बीच मेल व एकता स्थापित करने के लिए एक बहुमूल्य आदर्श उपस्थित करे जिस पर चलकर मनुष्य अपनी आध्यात्मिक उन्नति को सफलता से कर सके और साथ ही वैज्ञानिक सच्चाई को ढूँढ़ते हुए जो आर्थिक व्यवस्था भारतवासियों के स्वभाव व रुझान के अनुकूल व उचित हो, उस पर चल सके। आप जानना चाहेंगे कि दयालबाग़ क्या है ? यह वास्तव में सतसंग मण्डली और एक धार्मिक संगत (Religion Community) के मैम्बरों की ओर से धर्म को स्वार्थी व परमार्थी संस्थाओं के साथ संगठित व एक करके उसके द्वारा आत्म-निर्भरता (Self-help) अथवा अपने पाँव पर खड़े होने का प्रयत्न है। सम्भवतः संसार में कोई भी ऐसी धार्मिक संस्था नहीं है जिसने दयालबाग़ की भाँति वर्तमान आर्थिक मार्ग पर उन्नति की हो जिससे सारी संगत व कम्यूनिटी और पब्लिक को लाभ पहुँचा हो। इससे पहले कई वर्षों तक हमारा प्रयत्न दयालबाग़ के सेण्ट्रल इन्स्टीट्यूशन्स को सुदृढ़ बनाने की ओर था परन्तु अब हम अपनी परोपकार व दान की संस्थाओं को भिन्न-भिन्न प्रान्तों में उन्नति व वृद्धि दे रहे हैं। यदि यह कोशिश कामयाब रही तो इसका नतीजा यह होगा कि दूसरी संस्थाएँ (Communities) व देश भी इस मॉडल का अनुकरण करेंगे। राधास्वामी मत 1861 में शुरू हुआ। हुज़ूर स्वामी जी महाराज ने जिनको हम लोग कुल मालिक का अवतार मानते हैं, जनवरी सन् 1861 में इस मत की नींव डाली। इसके बाद उनके जितने जानशीन हुए, सब उनके प्रतिनिधि थे और साहब जी महाराज का नम्बर उन जानशीनों के सिलसिले में पाँचवाँ था। हमारा धर्म सर्वदेशीय (Cosmopolitan) है। इसके विश्वास व नियम ऐसे हैं कि प्रत्येक जाति व देश के लोग उन पर आसानी से चल सकते हैं। हम लोग सब धर्मों के संस्थापकों और उनके पूज्य आचार्यों के लिए हृदय में सम्मान रखते हैं और किसी से द्वेष नहीं रखते।"

राधास्वामी मत मालिक के अस्तित्व पर विश्वास रखता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य की आत्मा उस मालिक की निज अंश है। इस तरह से हमारे विश्वास के अनुसार मालिक सबका पिता है। संसार के सब मनुष्य एक-दूसरे के भाई हैं। उसका विश्वास है कि मालिक एक है यानी वह सच्चा परम पिता सारी आध्यात्मिकता का भण्डार है और सारी रचना को उत्पन्न करने वाला है। यह धर्म अपने अन्तर में आध्यात्मिकता की उन्नति पर जोर देता है और दूसरी तरह की रीति व रस्म की पाबन्दी की अपेक्षा करता है और जाति व नस्ल के तंग घेरे के बाहर है। इस धर्म के लीडर के नजदीकी सम्पर्क व समीप बैठने और बार-बार उनकी उपस्थिति में होने वाले जलसों यानी सतसंगों में उनकी सेवा में मौजूद रहने आदि की सब बातें आध्यात्मिक उन्नति के लिए

आवश्यक समझी जाती हैं। व्यर्थ जलसों व भीड़-भाड़ में जाना, जैसे—मेलों और बड़ी-बड़ी भीड़ों में शामिल होना, राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेना, हर प्रकार की नशीली चीजें और अण्डे, माँस आदि का इस्तेमाल करना उसकी उन्नति में बाधक हैं। प्रत्येक नये शामिल होने वाले सतसंगी व दूसरे सतसंगियों को यह हिदायत दी गई है कि वे अपनी आदमनी में निर्वाह करें और अपने अन्दर उत्तम आचरण व सज्जनता को पैदा करें।

इस धर्म के अनुयायियों का यह विचार है कि संसार के सब लोग एक बहुत बड़े परिवार के मैम्बर हैं और सब को इसी विचार को दृष्टि में रखकर जीवन व्यतीत करना चाहिए। हम एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और हमें एक-दूसरे की सहायता आवश्यक है। एक-दूसरे की सेवा करने और सर्व साधारण की भलाई के लिए कुरबानियाँ करने की बरकत से हमको असली जीवन का पता लग सकता है इसी भावना (Spirit) को अपने अन्दर पैदा करके हम बुराई की शक्तियों के विरुद्ध लड़ाई जीत सकते हैं और संसार में वास्तविक और स्थायी शान्ति स्थापित कर सकते हैं।

धर्म की कसौटी केवल मालिक की ओर ध्यान व व्यवहार पर निर्भर नहीं है बल्कि यह कि अमुक धर्म मनुष्य जाति की सेवा कहाँ तक कर सकता है। यहाँ सत्संग में हम लोगों का अपनी आत्मा को मालिक के अस्तित्व में मिला करके तद्‌रूप हो जाते हुए भी यह विश्वास है कि यदि हम मनुष्य जाति की उन्नति व वृद्धि में प्रेम व श्रद्धा से सेवा करेंगे तो हम अपनी खोज या आदर्श में विफल न होंगे।

●

22

उपसंहार

मानव जीवन में धर्म का आविर्भाव व विकास और विविध धार्मिक परम्पराओं के इतिहास को समझने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य की परिपूर्ण उन्नति और विकास के लिए प्रकृति ने हर तरह का प्रबन्ध कर रखा है। परिपूर्ण चेतना शक्ति के भण्डार परमात्मा ने जिसका अंश मनुष्य की आत्मा है, इस मनुष्य शरीर की सारी सृष्टि का नमूना बनाकर उसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों को जगाकर परपूर्णता की ओर बढ़ाने के लिए परामर्श दिया है। यह ही मनुष्य मात्र का और सारी दुनियाँ का ध्येय ठहराया गया है। इस ध्येय को पाने में ही उसका कल्याण है और इस सृष्टि और यहाँ के सारे प्रबन्धों का प्रयोजन जीवों को अपने चेतन भण्डार में पहुँचाना ही है।

दुनियाँ में धर्मों की तीन धाराएँ प्रचलित हैं। एक धारा मंगोलियन है जिसमें कनफूशियनिज्म, ताओइज्म और शिण्टोइज्म आते हैं। यह चीन और जापान में मानव की उन्नति के कारण थे परन्तु बाद में वहाँ बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा। दूसरी धारा सेमिटिक धारा है जिसमें यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म शामिल हैं। तीसरी धारा में वैदिक हिन्दू धर्म, श्रमण परम्परा के बौद्ध और जैन धर्म हैं। इस्लाम के सूफी और फकीर और हिन्दू धर्म परम्परा के सन्त जिसमें सिक्ख भी हैं एक सर्व समन्वित धार्मिक परम्परा के रूप में विकसित हुए हैं। इसी को धारणतया संमतय कहते हैं। इसमें कबीर पंथ, सिक्ख पंथ और राधास्वामी सम्प्रदाय सम्मिलित हैं। इनमें धर्म की सारी परम्पराओं का समन्वय है, अत: इसमें परिनिष्ठित स्वरूप दिखलाई देता है।

धर्म के दो स्वरूप मिलते हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक स्वरूप में मनुष्य को आत्मोन्नति और चेतनता को जाग्रत करने की साधनाएँ हैं। इसके अलावा इसमें वे साधनाएँ भी हैं जिनमें अपनेपन और इन्द्रियों को रोकने के संयम और नियम बताये गये हैं जिसके लिए तरह-तरह की साधनाएँ हैं। इन साधनाओं में साधारण बातें और लक्षण बहुत हैं, पर उद्देश्य तो एक ही है जो आत्मोन्नति और आत्मगुणों का विकास और आत्मा की ऊर्ध्व गति है। इस तत्त्व को समझने से हमको धर्म की एकता समझ में आती है।

धर्मों की विविधता

प्रकृति विभिन्नता में एकता को चाहती है। इस सृष्टि में हर पेड़ एक तरह का नहीं होता है और हर मनुष्य एक तरह का नहीं होता है फिर भी उनमें एकता की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यद्यपि मनुष्य को अपनी भूख-प्यास को दूर करने के लिए आहार लेना पड़ता है लेकिन

हर मनुष्य का आहार एक-सा नहीं होता है। इसी तरह उसके विचार भी भिन्न-भिन्न हैं और मस्तिष्क की शक्तियों को जगाने की कई रीतियाँ और पद्धतियाँ हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक और चैतन्य शक्तियों को जाने के लिए साधन भी कई होते हैं जो अपने-अपने अधिकार व रुचि और सामाजिक और वैयक्तिक परिस्थितियों के अनुसार संशोधित होते रहे हैं। इस वजह से किसी को दूसरों के धर्म और साधनाओं को बुरा समझने की जरूरत नहीं है बल्कि उन्हें आदर और सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए। हर ऋषि, मुनि, पीर, पैगम्बर, साधु, सन्त, गुरु, महात्माओं को गौरव व सम्मान का पात्र समझना चाहिए। वास्तव में धर्मों की भिन्नता (Religious Pluralism) धर्म की बहुमुखता व्याप्ति और सफलता में प्रतिफलित होती है, न कि परस्पर भेदभाव और झगड़ों को पैदा करने में।

आज का मानव भौतिक और बौद्धिक शक्तियों को विकसित करने में अधिक सफल हुआ है। प्राकृतिक नियमों को समझकर नये-नये साधनों को आविष्कृत करके अपने ऐहिक सुखों के लिए तरह-तरह की चीजें इकट्ठी कर ली हैं। कुछ घण्टों में ही दूसरी जगह जाने के साधन होने से खण्ड खण्डान्तरों के निवासी एक-दूसरे पर निर्भर हो गये हैं। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से कोई भी व्यक्ति या देश दूसरों से निरपेक्ष अलग नहीं रह सकता है। अपने कल्याण, प्रगति व शान्ति के लिए दूसरों का कल्याण, प्रगति व शान्ति की आवश्यकता है। इस सत्य से कुल मालिक व कुदरत इस दुनियाँ में ईश्वर की एकता और विश्व-बन्धुता (fatherhood of God and brotherhood of man) के सन्देश को फैलाना चाहते हैं। सारे महात्मा इस सत्य को समझाते रहे हैं फिर भी इसको ठीक न समझने की वजह से अभी दुनियाँ में अशान्ति फैली हुई है। मानव ने जितनी विज्ञान और तकनीकी में उन्नति की, उतनी अपनी आन्तरिक चेतना को जाग्रत करने और मन तथा इन्द्रियों को वश में लाने में नहीं की। इसके लिए सच्चा धर्म ही एकमात्र साधन है। इसलिए इस परम प्रयोजन को दृष्टि में रखकर हमें धर्म को अपनाना चाहिए।

आज विश्व में शान्ति फैलाने की दृष्टि से तरह-तरह की भावनाएँ उत्पन्न हो रही हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने से आशा होती है कि मनुष्य बुद्धि और विज्ञान पर निर्भर होकर मानव कल्याण स्थापित कर लेगा। इसके लिए धर्म की सहायता क्यों लेनी है ? धर्म तो मनुष्य को अन्धविश्वासों में भटका देता है, भेद-भाव पैदा करता है। इसलिए आप मानवतावाद को स्वीकार करके जहाँ तक हो सके, इसी जन्म में सुख और शान्ति की व्यवस्था करते जायँ। जो विषय धर्म में बतलाये गये हैं, वे विज्ञान से सिद्ध नहीं किये जा सके हैं। इसलिए उनमें विश्वास करना मूर्खता ही है। सारे मानव एक समान हैं। आर्थिक सम्पत्ति हो, वह हर एक की है, न किसी व्यक्ति की न किसी देश की। इसी तरह जो विज्ञान और ज्ञान जो विचार के फल हैं, वे सब सारी दुनियाँ के लिए उपलब्ध हो जायँ। सारे लोग अपने सुख व समृद्धि के लिए इन्तजाम कर लें। धर्मनिरपेक्ष मानव ही अपनी सुख-शान्ति का प्रबन्ध कर सकेगा। आज ऐसे विचारों की व्याप्ति ज्यादा हो रही है। लेकिन इस मानवतावाद की यह भूल है कि वह मानव शरीर का रहस्य और मानव जीवन का असली ध्येय नहीं जानता है। धर्मों के भ्रष्ट रूप को देखकर उसी को धर्म समझता है और मनुष्य में परिपूर्णता की दृष्टि न होने से उसका कल्याण करने में असमर्थ हो जाता है। इन लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि धर्म ही मानव को उत्तम बनाने में समर्थ है। मानव शरीर में जो उत्तम और कल्याणकारी शक्तियाँ गुप्त हैं और जो विज्ञान और तर्क से नहीं पाई जा सकती हैं, उनके लिए धर्म की शिक्षा को अपनाना चाहिए। मानव की निम्न प्रवृत्तियों को रोकने के लिए और उसमें प्रेम तथा

भ्रातृ-भाव पैदा करने में आत्मशक्ति को जाग्रत करने के अलावा और कोई साधन नहीं है। इस विश्व में एक महान् शक्ति काम कर रही है और उसकी कार्यवाही को समझ कर हम अपने जीवन को सफल करें।

धर्म का सही स्वरूप

धर्म यद्यपि अपने आरम्भ व विकास की दशाओं में मानव का मित्र सिद्ध हुआ तथापि जब उस धर्म की असलियत समझने वाले लोगों के कम होने पर वह अहंकार व द्वेष का कारण बन गया। किसी धर्म के पुरोहितों का प्रभाव बढ़ने लगा तो धर्म गुप्त हो गया। अन्तरी स्फूर्ति कम होने पर बाह्य नियम और कर्म-काण्ड निर्जीव बन गये जिसके नाम से विरोध बढ़ता चला। इसलिए धर्म को इस दुनियाँ में अपनी कर्तव्यता का पालन करके मानव श्रेय का साधन बनने के लिए ऐसी बुराइयों से दूर रहना चाहिए जो अधार्मिक और अनैतिक हैं। धर्म के प्रेमी और खोजी लोगों को चाहिए कि वे अपने धर्म का निज स्वरूप समझ लें और जो सत्य गति को प्राप्त करने के लिए धर्म प्रचलित हुआ, उसको पाने की कोशिश करें। अपने धर्म में उस गति को प्राप्त किए हुए जो महापुरुष हैं, उनकी शरण में आकर अपनी आत्मोन्नति करें। इससे हमको सभी धर्मों की एकता और साधारण-प्रयोजन मालूम हो जायेगा और विरोध मिट जायेगा। दूसरे धर्म और उनके प्रवर्तक आचार्यों में श्रद्धा व भक्ति पैदा हो जायेगी। हर धर्म मानव के आध्यात्मिक विकास का एक सक्रिय अंग मालूम होने लगेगा।

डॉ. राधाकृष्णनन् का कहना है कि—आजकल हर धर्म अपने को जाँच रहा है। अपनी असलियत को समझने में लगा हुआ है। वे आगे कहते हैं कि मैं धर्म की आवश्यकता में विश्वास करता हूँ और धर्मों के परस्पर सहायता में भी विश्वास करता हूँ। मेरा विश्वास है कि धर्म और विज्ञान, धर्म और सामाजिक नैतिकता एवं धर्म और धर्मों के पारस्परिक सहयोग में कोई विरोध नहीं है।

धर्म परमार्थ का साधन

धर्म असल में परमार्थ की खोज है। मानव जब अपनी आत्म उन्नति की आवश्यकता को समझकर उसके लिए सच्चा जिज्ञासु होकर अपना मार्ग ढूँढ़ लेता है, तभी वह धर्म का अधिकारी बन जाता है। इसलिए किसी को किसी धर्म में बलात् शामिल कराने की जरूरत नहीं है। जैसे—भूखे को ही खाद्य वस्तु का मूल्य मालूम हो जाता है, वैसे ही जिज्ञासु ही धर्म का प्रभाव समझ सकता है। अपने धर्म में उच्च गति प्राप्त हुए महानुभावों को ढूँढ़ के उनसे उपदेश प्राप्त करके ही अपना ध्येय प्राप्त होता है। हमारा तो यह कर्तव्य है कि दुनियाँ में प्रचलित धर्मों के उच्चतम सिद्धान्त उनके सामने रखें और उन महानुभावों के चरित्र-चित्रण भी करें जो इन महान धर्मों के पवित्र आचार्य थे।

धर्म के विषय यद्यपि अतीन्द्रिय, रहस्यमय और बुद्धि की शक्ति के परे हैं तथापि उनके प्रतिपादन में हम वैज्ञानिक तर्क प्रयुक्त कर सकते हैं। पिछले दिनों के धर्म के विषय अद्भुत गाथाओं से भरपूर होते थे और तर्क के विरुद्ध भी ठहराये जाते थे। लेकिन आजकल इन विषयों को वैज्ञानिक ढंग से और तार्किक दृष्टि से सिद्ध कर सकते हैं। इसलिए विज्ञान की प्रकृति धर्म का मित्र ही है, उससे धर्म की उन्नति ही हो जायेगी। धर्म में घुसी हुई असंगत और बुरी भावनाओं को निकाल सकते हैं। धर्म का ऐसा प्रतिपादन उसको सर्वोपादेय सिद्ध कर सकता है।

परम गुरु साहब जी महाराज का कथन है कि—

''आप विश्वास करें कि सच्चे ऋषियों, सन्तों और महात्माओं ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में जो कुछ वर्णन किया, वह उनके मस्तिष्क की कल्पना न थी किन्तु अन्तरी दृष्टि से देखी हुई बातें थीं। उनकी आत्मा जाग्रत थी। जाग्रत आत्मा ने आध्यात्मिक जगत की सीमाओं के भीतर प्रवेश करके प्रकृति के अन्तर में विद्यमान सार तत्त्व और काम करके वाणी शक्ति का ज्ञान अपने आप प्राप्त किया और जितना उचित समझा, इस ज्ञान को जनता के लाभ के लिए प्रकट किया। यह ज्ञान अटल अर्थात् सदा स्थिर रहने वाला होता है। विज्ञान के अनुभवों, दर्शनों की युक्तियों और लोगों के विश्वासों में परिवर्तन हो सकता है तथा लोगों की समझ-बूझ के बदलने पर इस योगियों के प्रत्यक्ष के वर्णन की रीति और वर्णन के सम्बन्ध में प्रयुक्त शब्दों, दृष्टान्तों आदि में उलट-फेर हो सकता है, पर वह ज्ञान सदा एक-सा स्थिर रहने वाला है। हिन्दुओं के सनातन धर्म का आधार यही योगियों का प्रत्यक्ष ज्ञान है। बौद्ध धर्म का ज्ञान महात्मा बुद्ध द्वारा इसी प्रकार प्राप्त किया हुआ अन्तरी दर्शन है। हजरत मूसा ने खुदा को तूर पर प्रज्ज्वलित अग्नि के रूप में देखा। किसी पैगम्बर ने खुदा की आवाज सुनी या हजरत मसीह ने खुदा से वार्तालाप किया—ये सब आन्तरिक इन्द्रियों ही से प्राप्त किये हुए अनुभवों से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं। इंजील में लिखा है कि ज्यों ही हजरत मसीह ने जार्डन नदी में बपतिस्मा लिया, उन्हें अन्तर में एक भारी चमत्कार का अनुभव हुआ। यहाँ तक कि इन महात्मा को कुछ समय के लिए उस पर विचार करने के लिए एकान्त में जाना पड़ा। हजरत मुहम्मद साहब को तो इस तरह के अनुभव बार-बार हुए। शंकराचार्य, सुकरात, अफलातून, प्लाटिनस, ऑगस्टाइन, डेन्टे आदि भी न्यूनाधिक इस प्रकार के अन्तरी अनुभवों के साक्षी हैं। राधस्वामी दयाल, गुरुनानक साहब, कबीर साहब और सभी सन्तों की वाणी ऐसे अन्तरी अनुभवों के उल्लेखों से परिपूर्ण है।''

आन्तरिक एकता

बुद्धिमानों का वचन है कि प्रकृति का बहुरंगीपन केवल देखने के लिए है और उसके पीछे एकरंगीपन का बड़ा नियम काम कर रहा है। सो इसी आधार पर कहा जाता है कि प्रकृति की अनेकता में एकता है। **पेड़ के सब हिस्से द्वारा** दिन-रात बीजों की तैयारी और रक्षा का उद्देश्य यह है कि वंश या जाति में उत्पत्ति का क्रम अनन्त काल तक चलता रहे क्योंकि यदि जाति नष्ट हो गई तो प्रकृति का वह उद्देश्य, जिसके लिए संसार में पेड़ की सत्ता प्रकट की गई थी, पूरा न होगा। तात्पर्य यह है कि पेड़ के सब हिस्से रूप-रेखा और कर्त्तव्यों में भेद के रहते हुए भी एक विशेष उद्देश्य पूरा करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। जो हाल पेड़ के शरीर के हिस्सों का है, वही हाल इस सृष्टि का है। यह कथन में लाने की आवश्यकता नहीं है कि यदि प्रकृति में बहुरंगीपन की दशा के पीछे एकरंगीपन की व्यवस्था या नियम न रहे तो संसार का कुछ ही क्षणों में अन्त हो जाय।

'बहुरंगीपन' का नियम मनुष्य की सत्ता और इससे सम्बन्ध रखने वाला जीवन के प्रबन्धों में भी देखने में आता है हमारे शरीर के सब अंग तथा हमारे शरीर, हृदय और मस्तिष्क की शक्तियाँ सब की सब एक विशेष उद्देश्य के पूरा करने में लगी हैं। वह उद्देश्य यह है कि मनुष्य की सत्ता या देह संसार में स्थित और स्वस्थ रहे जिससे कि प्रकृति का वह उद्देश्य जिसके लिए संसार में मनुष्य की सत्ता प्रकट हुई है, पूरा हो। तत्त्व ज्ञानी लोग बताते हैं कि संसार में मनुष्य की सत्ता इस मण्डल की प्राकृतिक शक्तियों की पराकाष्ठा अर्थात् हद है। इस सत्ता के द्वारा प्रयत्न अर्थात्

साधन करके आत्माएँ माया के उस देश से जिसके कारण उन्हें इस जगत् में जाना पड़ा, मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं। मानो, मनुष्य देह प्रकृति ने संसार में इस उद्देश्य से बनायी कि इस मण्डल में आयी हुई आत्माएँ उन कारणों से जिन्होंने इन्हें गिरा करके यहाँ तक पहुँचाया, छुटकारा पाकर चेतनता के उच्च से उच्च मण्डल में पहुँचने का अवसर प्राप्त करें। सन्त मत में जीवन का यह उच्चतम उद्देश्य ही परमार्थ कहलाता है।

प्रकृति ने मनुष्य की भलाई के लिए हर जाति और हर देश में धार्मिक आचार्य उत्पन्न करने का प्रबन्ध किया है और वे उचित समय पर भिन्न-भिन्न जातियों और देशों में उत्पन्न हुए तथा उन्होंने अपने समय और देश की दशा को दृष्टि में रखकर जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षाएँ दीं और जनता के एक अंश ने उन शिक्षाओं पर आचरण करके आध्यात्मिक ज्ञान का आनन्द लूटा तथा अपने मनुष्य जन्म को सफल किया। परन्तु उन पथ-प्रदर्शकों के संसार से लौट जाने पर जब उनका स्थान साधारण संसारियों ने ले लिया और आध्यात्मिक साधनों के स्थान में धार्मिक कर्मकाण्ड का चक्र चल पड़ा, तब जीवन के उद्देश्य से बेखबर, आध्यात्मिक साधनों से अनजान और धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रेमी लोग अपने को अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तक के इकलौते बेटे, अपने सम्प्रदाय रूपी दीपक के पतंग, संसार के चुने हुए सरदार और सच्चे धर्म के ठेकेदार मानने लगे। परिणाम यह हुआ कि धार्मिक संसार में फूट पड़ गयी और यही आजकल देखने में आ रहा है—हर धर्म का ईश्वर अलग है, पैगम्बर अलग है, मन्दिर अलग है, उपासना की विधि अलग है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अपने को ईश्वर की एकमात्र सन्तान और दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों को नारकीयों के समान देखता है। यदि एक धर्म का अनुयायी पूर्व की ओर मुँह करके संध्या करना ठीक समझता है तो दूसरे धर्म का अनुयायी पश्चिम की ओर मुँह करके नमाज पढ़ना आवश्यक समझता है। यदि एक धर्म का प्रेमी दिन में तीन या पाँच बार मालिक के चरणों में उपस्थित होना चाहता है तो दूसरे धर्म का प्रेमी प्रातःकाल और सायंकाल ही की संध्या को ठीक मानता है क्योंकि दिन और रात ये ही दो सन्धि काल होते हैं। यदि एक भक्त जन अपनी मातृभाषा में प्रार्थना करना अच्छा समझता है तो दूसरा उसे दूषित ठहराता है और संस्कृत तथा अरबी भाषा ही के प्रयोग करने पर जोर देता है। यदि एक सम्प्रदाय एक पुस्तक को ईश्वरीय वचन मानता है तो दूसरा उसे बच्चों की सी बातों का संग्रह बतलाता है। यदि एक समुदाय एक महापुरुष को सच्चा पथ-प्रदर्शक मानता है तो दूसरा उसे साधारण मनुष्य से भी गिरा हुआ ठहराता है।

लोगों की यह दशा देखकर प्रकृति का एकरंगीपन का नियम पुकार-पुकार कर कहता है भले लोगों! मालिक पूर्व और पश्चिम दोनों में है और एक है। मालिक का द्वार हर समय खुला रहता है। मालिक किसी विशेष भाषा का प्रेमी नहीं है। सब सच्चे ऋषि और पैगम्बर उसी की आज्ञा से संसार में प्रकट हुए और उनके द्वारा कहे हुए सभी वचन एक से ही पवित्र और मान्य हैं। मालिक एक ही है, हाँ उसके गुण असंख्य हैं। तुम किसी गुण को ध्यान में रखकर उसका स्मरण कर सकते हो। वह किसी विशेष निवास स्थान में बन्दी नहीं है। वह हर जगह विद्यमान है। यदि उसके दर्शन या दया की इच्छा हो तो उसे स्वयं अपने अन्तर में ढूँढ़ो या किसी ऐसे महात्मा के सत्संग में जाओ जिसने आत्मिक शक्तियाँ जगाकर उससे आत्मिक मिलाप प्राप्त किया हो। सभी मनुष्य गोरे हों या काले, विद्वान हों या मूर्ख, उसके बच्चे हैं और उसे एक से प्यारे हैं। मनुष्य जन्म का मुख्य उद्देश्य आत्माओं को उच्चतम चेतन मण्डल में पहुँचने का अवसर देना है। धर्म वह मार्ग है जो संसार से चलकर उस उच्चतम मण्डल तक पहुँचता और पहुँचाता है। फिर तुम्हारे आपस

के लड़ाई-झगड़े का क्या अर्थ ? धर्म के प्रेमी सबके सब चेतनता के उच्चतम स्थान में पहुँचना चाहते हैं और जैसी जिसको पसन्द है, वैसी ही रीति से यात्रा की तैयारी में लगे हैं। तुम कौन होते हो उनके प्रेम और उत्साह को ठेस पहुँचाने वाले ? तुम्हें क्या अधिकार है कि अपना सूखा ज्ञान सुनाकर दूसरों के मार्ग में बाधक बनो ? यदि तुम स्वयं आगे नहीं बढ़ना चाहते हो तो मत बढ़ो, पर दूसरों की उन्नति के मार्ग में रोड़े मत अटकाओ।

प्रकृति ने यह सृष्टि किसी उद्देश्य से रची है। प्रकृति कुल मालिक की चेतन शक्ति को कहते हैं। क्या तुम इस बलवती शक्ति के संकल्प और प्रबन्ध में उलट-फेर कर सकते हो ? उसका संकलन और उद्देश्य अवश्य पूरा होगा। बाधक बनकर तुम व्यर्थ अपना और अपने से सहमत लोगों की हानि करते हो। तुम भेद-भाव से चित्त को हटाकर मेरी ओर ध्यान दो। मुझे स्वयं प्रकृति ने नियुक्त किया है। अन्त में मेरी ही बात रहेगी। यदि मेरे कहने का विश्वास नहीं है तो संसार के इतिहास से साखी ले लो। मैं तुम्हारे सब संकटों का अन्त करके तुम्हें आध्यात्मिकता के उच्चतम स्थान पर जिसे परमार्थ की बोली में परम गति कहते हैं, पहुँचा दूँगा। मेरे इस वचन को सत्य मानो और इसके सम्बन्ध में कुछ भी सन्देह न करो।''

ऋग्वेद में भी इसी अनेकता में एकता के भाव का अभिव्यक्तीकरण इस प्रकार है—

"सङ्गच्छध्वं संवदध्वं
सं वो मनांसि जानताम्
देवा भागं यथा पूर्व
सञ्जानाना उपासते।।
समानी वः आकूतिः
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति।।"

''एक साथ जीओ, एक साथ बोलो, तुम्हारा मन एक मत होवे जिस प्रकार पुराने देव एकमत होकर यज्ञ-भाग स्वीकार करते हैं। तुम्हारा संकल्प समान हो, तुम्हारा हृदय समान हो, तुम्हारा मन समान हो जिससे तुम्हारा सुन्दर साथ हो सके।''

परम पुरुष पूरन धनी साहब जी महाराज ने भी अपने शब्दों में सबके लिए उसी कृपा दृष्टि एवं मेहर दृष्टि की याचना की है—

"हे दयाल सद् कृपाल हम जीवन आधारे।
सप्रेम प्रीति और भक्ति रीति वन्दे चरण तुम्हारे।।
दीन अजान इक चहे दान, दीजे दया विचारे।
कृपा दृष्टि निज मेहर वृष्टि, सब पर करो पियारे।।"

●

23

RELIGIONS OF THE WORLD

Religion is the most benevolent of the gifts of God to man. God created man in His own image, a microcosm and provided for not only his physical and mental development but also for his spiritual regeneration. So different seers and saitns, prophets and incarnations were born in different times and climes who revealed higher secrets of his being, his relation to God and universe and the means of his spiritual development which is the prime end of human life. The teachings of such great personalities evolved into different religious traditions of this world. India is specially blessed with the advent of several such great personalities and is the home of great religions of Hinduism, Janism, Buddhism and Sant Mat, the Radhasoami Faith. Christianity and Islam which originated in Central Asia, Jerusalem and Arabia came to India early in their history and got integrated into the religious fabric of India. Sant Mat or Radhasoami Faith is the ripe fruition of all this religious endeavour and blessing.

HINDUISM

Hinduism also known as Sanatana Dharma is the oldest of the Religious Traditions of the World. Vedas from the main source of this tradition. The early portions of Vedic Samhits consisted of prayers to Nature gods like Agni and Indra who were propitiated for gifts of plenty and prosperity. They also spoke of Rita the natural order behind the events of the world and Satya the One Invisible Divine Force animating all sentient beings and gods. The nature of the Supreme God was revealed by a Rishi by means of the famous Gayatri Mantra. His form is described as Savita, the morning sun, and His Name is given as 'OM'. All knots of the heart are said to be removed when one has His Darsana. Only a few people could grasp this teaching of high religion. The priests took the direction of ritualistic worship. They developed sacrificial rituals and Yajnas and Yaga to appease the gods. The Karma Kanda was believed to ensure worldly welfare and Savarga hereafter. They also believed in rebirth in another body after death according to one's Karmas-Punya or Papa-in higher or lower animate forms. After deep speculations into the nature of the results of this sacrificial religion and Karma Kanda, seers endowed with insight gave

out the Upanishads which contained higher religion of Vedanta. They spoke of the individual spirit, the Atman, the Universal spirit Paramatman and their essential unity. The universal spirit is explained to be of the nature of Sat. Chit and Ananda, Truth, Intelligence and Bliss. He is all-pervading and transcendental and immortal and He is the creator of all this universe. His True Name is 'OM'. Their teachings were imparted by the realised ones, the Rishi Gurus, to be eligible seekers of Truth. The two paths of Preyas-seeking of pleasures, and Sreyas-seeking eternal happiness and release from births and deaths were distinguished from each other. Similarly a distinction was made between worldly knowledge obtained through the study of different subjects the Apara Vidya and transcendental knowledge obtained through internal spiritual practices, the knowledge of Brahma Purusha, the Universal Soul-the Para Vidya. The four ends of life Dharma. Artha, Kama and Moksha were enunciated.

The high teachings were taught by the Guru to one who was endowed with discrimination of what is permanent and what is not permanent, spirit of renunication of pleasures here and hereafter, control over body, senses and mind and a strong desire to attain Moksha. In course of time the ritualistic religion gained upper hand once again when Lord Krishna, the incarnation of Para Brahma came and taught His worship as a means to attain Him and laid foundation of Bhakti Marga. His teachings in the Bhagavadgita declared that caste in society is determined by Guna, i.e., qualities and Karma, i.e., actions but not by birth. Bhagavadgita also integrated Jnana, Karma and Bhakti Margas for salvation and other prevalent philosophies like Sankhya and Yoga. Thus it became the prime exponent of Hindu religion and philosophy. Belief in cycle of birth and re-birth and the doctrine of Karma can be said to be central to Hinduism.

Side by side with the Vedic tradition, there developed the Agamas and Puranas teaching the worship of Vishnu, Shiva and Shakti identifying them with Para Brahman, the Supreme Being of Para Shakti, His Power. The Vaishnava tradition developed nine forms of worship-Listening to the glories of the Lord-Sravana; Singing the glories of the Lord-Kirtana; Remembering the Lord-Smarana; Serving at the Feet of the Lord-Padasevana; worshipping the Lord-Archana; paying obeisances to the Lord-Vandana; Service to the Lord Dasya; cultivating friendly love towards the Lord-Sakhya, and Self-surrender to the Lord-Atma-nivedana. Among great exponents of Bhakti we should mention-Narada BHakti Sutras and Sandilya Bhakti Sutras and Srimadbhagavata. In the same way devotion to Shiva and Shakti were also taught by the respective Tantras and Puranas. Several types of Mantras and Tantras, incantations and rituals of worship were developed in these traditions. As a result, a vatiety of myths, idol-worship and festivals became prevalent in Hinduism obscuring the profound Truths of Religion and philosophy. Some of them slid into undesirable practices and superstitions. The arrival of the British and Western thought

gave rise to reformist movements like those of Raja Rammohan Roy and later revivalist movements of Arya Samaj and Rama Krishna Mission who advocated going back to Vedic and Vedantic tradition.

The path of devotion to the Supreme Being and Bhakti in preference to paths of Karma, observance of rituals and Gyan i.e., pursuit of spiritual knowledge gradually took shape. Sufism in the North and the Tamil Vaishnavite Alwars and Shaiva Nayanmars spread Sagun Bhakti in the South where Ramanad was one of the foremost exponents of the philosophy. In the North, Gyaneshwar, Chaitanya and Ravi Das expounded the path of Bhakti. Kabir Sahab advocated Nirguna Bhakti. This was the time for the advent of Saints who taught Surat Shabd Marg and revealed the secrets of the highest regions.

BUDDHISM

Buddhism was founded by Siddhartha Gautama who came to be known as Buddha after attaining enlightenment. Siddhartha Gautama was the son of King Suddhodana and queen Mahamaya. He was born at Lumbini near Kapilvastu, a chief city at the foot hills of Himalayas about 566 B.C. on the Vaisakha Purnima Day. His mother died early and he was brought up by her sister Prajapati his step mother. He married Yashodhara and had a son Rahula. Once he went out of the palace in a chariot and saw an old man, a sickman a corpse and a mendicant and learnt from his charioteer that old age, disease, and death are inevitable and people became mendicant in search of peace. Siddhartha made up his mind to renounce the home life. He left his home and became an ascetic. He went from teacher to teacher and performed hard penance. But later he rejected the way of painful austerities and took to middle path avoiding the pursuits of pleasure and extreme asceticism. He attained enlightenment at Gaya transcending four stages of dhyana. He moved to Sarnath near Varanasi where ge gave the first sermon. He found that there is misery in this world everywhere and found out the cause of that misery and also the means to end that misery and attain Nirvana. Buddha taught four Arya Satyas-Aryan Truths-Dukha misery; Dukha-Samudaya (Trishna) the cause of misery in the form of desire; Dukha Nirodha-that there is an end to this misery; Dukha Nirodhagamini Pratipad-the way leading to the end of misery. In the last category of Truth-Ashtangika Marga, the eight-fold path is given. Samyak Drishti-right view; Samyak Sankalpa-right intention, Samyak Vachana-right speech; Samyak Karmanta-right action; Samyak Ajiva-right livelihood; Samyak Vyayama-right effort; Samyak Smriti-right mindfulness; Samyak Samadhi-right concentration. The three gems (Triatna) also called three refugees (Trisharanas) taught by Buddha are Buddha, Dhamma and Sangha. The Sangha includes monks (Bhikshus), nuns (Bhikshunis) and other devout men and women.

The aim of our life is to reform ourselves, our actions and character and ward off all misery. Therefore Gautama Buddha did not indulge in speculations about Atma, Paramatman or the creator and accosted people to become Atma

Dipa-a light to oneself and destroy the cause of misery-the desire. Everything in this world is changing every moment including Atman the self. It is like the continuity of a stream i.e., though the water flows continously, we call it the same stream. So we should strive for purification. Buddhism believes in life after death. The aim of our life is to get rid of Trishna-desire, which is the cause of transmigration and attain Nirvana extinction or calmness. They prescribe meditation as a means to Nirvana. The teachings of Buddhism are contained in the Tripitakas.

Buddhism spread out to different countries. It was divided into Hinayana and Mahayana. Hinayana, the orthodox school, believes in attainment of Arhathood or liberation while according to Mahayana, everyone should follow the path of Bodhisattva, potential Buddha and become perfect Buddhas. Hinayana is now followed in Ceylon, Mahayana spread to China and Japan. The type of Tibetan Buddhism is Vajrayana which got mixed up with various Tantric practices. The Dhyan techniques of Buddhism became Chan-Buddhism in China and Zen-Buddhism in Japan.

JAINISM

Jainism and Buddhism were in the nature of Sramana tradition of recluse ascetics who emphasize on hard penances and celibacy (Tapas and Brahmacharya). They opposed the sacrificed religion of the Vedas and taught Ahimsa. They were called Nastika religions for they denied the existence of a Universal Soul or God, the creator and believed in naturalistic origin of the world. Both the religions were founded at almost the same time in the 6th century B.C.

Jainism was founded by twenty four Tirthankaras, the last of whom was Vardhamana Mahavira. The 23rd Tirthankara Parsvanatha taught four fold disciplines-Ahimsa, Satya, Asteya dn Aparigraha. The 24th Tirthankara Vardhamana Mahavira added Brahmacharya to them and called them Pancha Mahavratas-five Great Disciplines. Vardhamana Mahavira was the son of Siddhartha and Trishala who beloved to a Kshatriya clan. He was born in 599 B.C. at Kundagrama near Vaishali. He lived with his parents till their death. Tradition says that he was married to Yashoda and a daughter was born to them called Priyadarshana. Vardhamana had an urge to renounce the world and he did so after the death of his parents and took to ascetic discipline in search of ultimate peace. Vardhamana underwent service austerities for twelve years before he attained Kaivalya and became a Mahavira, a Jina and an Arhat. The disciplines taught by Mahavira make man perfect in his life. Great emphasis is laid on Ahimsa in Jainism. According to Jainism, there are two kinds of substances in this world-Chetan and Achetan-sentient (jiva) and insentient (ajiva). Jiva, the sentient along with Ajiva insentient matter brings this world into existence and gets entangled in it. Dharma is that condition when Jiva and Ajiva become functional in this world. The principle of change is Time, Kala, Jiva is like a boat in the ocean of this world where the water of Karmas the results of our action flow in—Asrava inflow. The drying up of these Karmas is Samvara. Drying of the water already collected is Nirjara. The Five Mahavratas mentioned above enable one to get rid of the Karmas and get Kaivalya, Loneness i.e., freedom from association with material elements when the Jiva gets pure knowledge, Suddha Jana. Three jewels Triatna of Samyak Drishti right perception, Samyak Jnana. Three jewels Triatna of Samyak Drishti right perception, Samyak Jnana Right knowledge and Samyak Charitra-right conduct are the means for attaining Kaivalya. The Jain community comprises monks (Sadhus or Sramanas); nuns (Sadhvis), laymen (Shravakas or Upasakas) and lay women (Shravika or Upasika). Jainism is confined to India only on account of its strict discipline. The teachings of Jainism are contained in the Agamas. The two important sects of Jainism are the Digambaras and the Svetambaras.

JUDAISM

Judaism is the oldest of the three major religions which originated in West Asia. The earliest narratives refer to Abraham. His God is described as El. His son Issac was father of Jacob who had various religious experiences including a dream in which he saw a ladder leading upto the heaven and he named the place as Bethel or House of God. His 12sons bore the names of 12 tribes of Israel. These became a confederacy to dominate Palestine. There are several incidents of his devotion to his God including his willingness to sacrifice his son in obedience of God. He later came to be known as Yisra'el. Around 1300 B.C. there rose a leader of Israelites who were working as slave for Egyptians. He led a revolution against them and they escaped through Sinai. They conquered the land of Canaan in the name of a new religious ideology of commitment to one God whom they called Yahweh (Jehovah). This leader was Moshed or Moses. It is said that when he had Israelites out of Egypt to Mount Sinai, the sea parted to let the Israelites escape. Moses experienced several visions and heard the voice of 'Yahweh'. The followers of Judaism call this the Great Exodus. Several miracles are said to have happened during this and these events are commemorated at the great Jewish family feast-the Pass over. The most important of the events was Moshe (Moses) ascending the mount Sinai to converse with the Divine Being and receive the covenants, including the ten commandments which have also been absorbed in Christianity. The Israelite religion preached loyalty to and worship of one God and to no other gods

Eventually the pattern of leadership of Isralites changed to Kingship. David was the second king and great hero who captured Jerusalem and created the capital there. A great Temple was built there by Shelomoh (Solomon 965-925 B.C.) Animal sacrifices and offering of grain and other food were made at this and at other temples.

The followers of Judaism are enjoined strictly to observe Shabbath a day of solemn rest and prayers.

The Ten Commandments which Moses received from God are briefly as follows—

(1) Thou shalt have none other gods before me (One God principle).

(2) Thou shalt not make thee any graven image, or any likeness of any thing that is in heaven above (against idolatry)

(3) Show mercy unto those who love me and keep my commandments.

(4) Thou shalt not take the name of the Lord thy God in vain.

(5) Keep the Shabbath day to sanctify it, as the Lord thy God hath commanded thee, six days thou shalt work but the seventh day thou shalt not do any work.

(6) Honour thy father and thy mother.

(7) Thou shalt not kill.

(8) Thou shalt not commit adultery.

(9) Thou shalt not steal.

(10) Neither shalt thou desrie thy neigbour's wife, neither shalt thou covet thy neighbour's house, his field, or his manservant, or his maidservant, his ox, or his ass, or any thing that is thy neighbour's; neither shalt thou bear false witness against thy neighbour.

These commandments from the main teachings of Judaism. The religion requires a life of strict discipline and sacrifice to be led. They believe that man is made in the image of God and is created after his likeness. Those who do good deeds go to heaven and those who do wrong go to hell for retribution but after getting cleansed they too go to heaven. The Jews believe that God would send another prophet after Moses for their rescue at the proper time.

CHRISTIANITY

Christianity is the second of the three major religions which originated in West Asia.

Yeshu'a (Jesus) is believed to have been born in the 4 B.C. in Nazareth in Galilee area in a capenter's home. His father's name was Joseph and Mary was his mother. His cousin Yohanan (John) was deeply involved in religion and lived the life of an ascetic. He used to preach in Synagogues (Jewish places of worship). He was critical of hypocrisy and loose living of the people and warned the sinners to prepare for the Last Judgment, turn away from sin and reform themselves. He proclaimed the early coming of the Kingdom of God. Jesus was baptized by John when he was about 15 years old. John was imprisoned by King Herod for his teachings and Jesus took up the Baptist's work. John was subsequently killed by Herod and Jesus took up the burden of leadership and stated by boldly proclaiming the Gospel of repentance, belief and salvation for the un-believers and that un-repentant sinners would go to an ever-lasting hell. Several miracles are attributed to Jesus including healing of sick persons. His proclamation that the poor shall inherit the earth and a life of plenty for them and criticism of the rich, led people to interpret the Kingdom

as the communist utopia. Later he declared himself to be the Messiah and his followrs believed that he was the long awaited redeemer who would establish the reign of god upon earth. He addressed god as father and accepted reference to him as Son of the Living God. He used to preach in Jewish synagogues and in open places. He was critical of the prevailing social practices. Jesus visited the Temple of Jerusalem at a time close to Passover feast and seeing the commercialization there, he and his followers overthrew the tables of money changers in the Court of the Temple and drove the traders from the Temple. These actions offended the Jewish leaders and they apprehended that as a result of his teachings there might be a futile revolt against the Roman power which may lead to retributions by the Romans. The high priest of Jerusalem called a meeting of Sanhedern (the Council) which held him guilty of treason and ordered the arrest of Christ. He was arrested and in view of the finding of the Council, the Roman governor Pontuis Pailate handed down the punishment of death and in accordance with the custom he was crucified. It was a Friday when crucification took place. According to Christian belief, Jesus rose from the grave (resurrection) two days later on Monday (Easter Monday) and 40 days later he is believed to have ascended into heaven (Ascension).

The crucification of Jesus Christ is believed to have been an atonement for the sins of men. This is thought to have brought mankind and God together. God as Father, Jesus as Son and the Holy spirit being three persons or centre of consciousness in one being is known as the Holy Trinity. (There are differences of concept in this regard). Alienation of man from God is thought to be due to actions of Adam and Eve in the first instance. Church is the community of Christians. Church Prayer is an important element of the religion. There has also been a monastic trend and within that the practice of contemplation and the mystical union with the divine beliefs grew. Life of celibacy and austerity attracted several people. In common with Judaism and Isla, Christianity shares the belief of man being born once only and of judgement after life and there being a Heaven and a Hell. Through belief in Christ and repentance, Prayers and leading a good moral life of Christian, one can escape condemnation.

Christians also share with followers of Judaism, the Ten Commandments. Meekness and avoidance of violence are hall-marks of Christian ethics. One of the most famous sermons delivered by Jesus Christ is called the Sermon on the Mount. Some of the elements of which are :

1. Blessed are the poor in spirit : for their's is the Kingdom of Heaven.
2. Blessed are they that mourn : for they shall be comforted.
3. Blessed are the meek : for they shall inherit the earth;
4. Blessed are they that do hunger and thrist after rightenousness : for they shall be filled;
5. Blessed are the merciful : for they shall obtain mercy;
6. Blessed are the pure in heart : for they shall see God;

7. Blessed are the Peace-makers : for they shall be called Children of God;

8. Blessed are they that are persecuted for rightenousness sake : for their's is the Kingdom of Heaven.

After Jesus Christ the torch of his ideas and preachings was carried by his disciples of which mention may made of Peter, Paul, Mark and Mathew and Luke and others.

Although Jesus died on the cross, his preachings survived and conquered the Roman world.

There are three broad divisions of Christianity. First, the Greek Orthodox Church which was centered in Constantinople (Byzantine Empire) in which there is much emphasis on elaborate and special ceremonies, Prayers, system of ICONS (paintings of Jesus Christ and Saints) conceived as a window on heaven and object of devotion. The romanm Catholic Church, the Head of which is the Pope based in Rome has a strong organization based on a cadre of priests, Bishops and Cardinals through which the activities of Christians are guided. Pope is believed to be an Apostle of Christ and interprets the Christian teachings and guides the followers. There is a large mass of Protestants who do not believe in the authority of Rome and the rituals and doctrines followed by the Greek Orthodox Church. They introduced th euse of vernacular language in service and not Latin. Eucharist (Mass or communion partaking of bread and wine) was simplified. Worship service and preaching from the pulpit were the center piece. Many aspects of ritual piety were shed such as pilgrimage, use of relics of Saints.

ISLAM

Islam literally means 'submission of God'. The religion originated with prophet Mohammad who was born in Mecca in 570 A.D. Mecca was a prosperous city on the Red Sea coast and it contained the sacred building Kabba. It is believed to have been built by Abraham and his son Ismail, as a centre of worship of God. The area around Kabba is sacred. The dominant tribe in Mecca to which Hazrat Mohammad belonged was Quraiys. His father and mother died when he was young. He was brought up by relatives. He was employed by Khadijah, a wealthy widow, who subsequently married him. Though he became active in trade, he had opportunities for reflection and spent a month each year meditating in a cave near Mecca. It was in 610 A.D. that he began to have religious experiences which he described first to his family and later publicly. He attacked polytheism which threatened the livelihood of those who depended on Mecca shrine.The ethic he pronounced was not fully in accord with the money-making policy of the rich merchants in the city; later he conveyed the messages that altered the legal shape of the existing society especially with regard to marriage. Only a small band of followers joined him.

2. In 622 A.D. he was invited to migrate to Madina to take up the leadership of the tribes there. This migration is known as Hijr and the Mohammadan era is reckoned with effect from this date. Mohammad Sahab was able to unify and bring about harmony among factions of Madina and came to control its political affairs. He defeated tribes of Mecca in 624 A.D and acquired control over Mecca. He died in June 632 A.D. Hazrat Mohammad was a considerable political and military leader, magnanimous and decisive and had behind him the assurance of faith as a result of his prophetic experiences.

3. Quaran is the holy book of Muslims which contains the utterances of Hazrat Mohammad, believed to be based on revelations made by God through angel Gabriel. It is believed that Hazrat Mohammad made a night journey to temple mount in Jerusalem from whence he ascended to the seventh heaven. On his way he saw Moses, Abraham and Jesus. The daily five prayers are believed to have been revealed during this journey. The key beliefs of Islam are as below :

(1) There is one God and His name is Allah.

(2) Mohammad is Allah's messenger or Prophet.

(3) The Musalmans should recite Namaj (Prayers) five times a day early morning, mid-morning, early afternoon, evening and before retiring for the night.

(4) He must offers alms to the poor and the needy. This is called Zakat.

(5) Muslims are expected to observe roza i.e. fasting, from sun-rise to sun-set during the holy month of Ramzan, and lead a life of abstinence during this period.

(6) At least once in his life a Muslim should undertake holy pilgrimage to Kabba; Hajj.

(7) Man is born on earth only once but his life does not end with death. There is a period of waiting called Bar-Zakh after which there is judgment and the soul is assigned to heaven or hell.

4. Islam teaches faith in one God and prohibits idolatry. It shares the mythology and early history with two other major religions viz., Judaism and Christanity which also originated in Western Asia.

5. There are two major sects of Islam viz., Sunni and Shia. After the demise of Hazrat Mohammad the leadership first passed on to Abu Bakr, Hazrat Mohammad's father-in-law and then to Umar and Usman who was assassinated. It led to a civil war when succession of Hazrat Ali, cousin and son-in-law of Hazrat Mohammad was opposed. Hazrat Ali was assassinated in 661 A.D. and according to Shias, the torch passed on to Hussain, his son, who was believed to be the third Imran (religious leader) of the community. Hussain was also slain at Karbala in 680 A.D. and his martyrdom is celebrated by Shias on 10th day of the lunar month of Muharram. While the Sunnis believe that there was no succession after the first three leaders, the dominant group of Shias believed

that there has been a succession of 12 Imams. Theoretically the Khalifa and the Imam should be the same but in practice, since Khilafat became corrupted, the religious leadership has been held by a separate line of the Imams. They believed that the Imam afterwards has no manifasted and through dreams and vision it is possible for earthly things to be in contact with him.

6. Another variant of the religious movement is Sufism which is mystical Islam. The teachings of Hazrat Mohammad-man is the servant and worshipper of God, developed into love for God. Sufism is the religion of Faqirs, based on the concept of man as an individual spirit who got separated from the Universal spirit God and is on his way back to Him. The individual soul merges with the Universal Soul by performing spiritual practices (Saluk). Sufism teaches three practices. Zikr (Sumiran); Fikr (Dhyan); and Sultan-ul-azkar (listening internally to the spiritual sounds). The secrets are known to a spiritual leader (Murshid). Sufi Saints like Maulana Rumi have spoken of the purely spiritual region.

SANT MAT

KABIR SAHAB AND GURU NANAK

There are three grand divisions in the creation. The highest is the purely spiritual region, Sat Lok or Nirmal Chetan Desh. The second is Brahmanda where there is mind and spirit and the mind pedominates. The third is called Pind Desh where matter predominates over mind and spirit. From time to time; spirits from various regions manifest for the uplift and redemption of mankind. In our parlance those coming from the purely spiritual region are called "sants" or saints.

2. The teachings of Kabir Sahab, Paltu Sahab, Jagjivan Sahab, Guru Nanak and Tulsi Sahab have much in common and collectively came to be known as Sant Mat. They taught devotion to Sat Purusha-the creator of Para Brahma, whose abode is in the pure spiritual region beyond Brahmanda, the region of the mind. The teachings of these Saints are similar to those of the Radhsoami Faith. Radhasoami Faith is also called Sant Mat. The first of these saints was Kabir Sahab.

3. Kabir Sahab was born in 1445 A.D. Niru and Nima who were humble weaver Muslims of Varanasi were his foster parents. His criticized the meaningless customs of both the Hindus and the muslims and asked them to worship the One Supreme Being. The priests of both the religious opposed him at the beginning, but they were made to realize the truth of spirituality. He said that it is the Satguru alone who can redeem Jivas from the bondage of Karmas and Surat Shabda Yoga-the path of listening to the spiritual sound is the only way to realize the Almighty. He spoke of the regions of the purly spiritual region-upto the ultimate-Alakh, Agam and Anami. It is also believed that he indicated in his writings the True Name of the Lord Radhasoami; thus heralding the advent of Radhasoami Dayal. His teachings were spread later by his disciples like Dharmadasa and the tradition came to be known as Kabir Panth.

4. (a) Guru Nanak was born in 1469 A.D. at the village Talwandi now known as Nanakana Sahib, near Lahore, in a Kshatriya family. He got married and had two sons Srichand and Lakshmidas. He tok up service with the Muslim Nawab of Sultanpur. EVen while at work his thoughts remained with God. He used to get absorbed in prayers and singing in praise of God. When he was twenty seven years old, he received the call to go out on his mission of spreading divine message. He detested religious differences among men and taught the message of true discipleship to One God. He toured far and wide. He established at Kartarpur, a community of disciples who believed in God and the Guru and made Lord's word-Sat Nam-the purpose of their lives. The institution of Langar-the community kitchen-was established which promoted brotherhood and equality among his followers. He chose Lehna-the humblszt of his disciples to succeed him and named him Angad. The essence of the teachings of Guru Nanak is that Sat Nam is the Name of God Who is the Creator and all pervading. He is Truth Eternal and He can be realised through the Grace of the Guru who reveals the God's Shabda. He strongly opposed differences by caste and birth among people.

(b) Guru Arjun, the fifth Guru, developed Sikh religion to a great extent. He gave Sikhism the Adi Granth, their scripture and its main place of worship, Amritsar. The Adi Granth included not only the hymns of Sikh Gurus but also the compositions of famous Saints and Sufis like Sant Kabir and Sheik Farid. Sikhism spread far and wide in his time. The Mughals could not tolerate this, and he was persecuted. Har Govind, who succeeded him, rose up to the occasion and made warriors of his disciples. He founded the Akal Takht at Amritsar from where he conducted his secular affairs. The ninth Guru was Tegh Bahadur who also became a martyr. Guru Govind Singh, the last and tenth Guru, took over when he was only nine years old. At Anandpur, he chose five of his beloved disciples who were prepared to give up their lives for the Guru and called them Panj Pyare-the five Beloved Ones. With them the order of Khalsa was formed. They were enjoined to help the humble and fight the oppressor aqnd to have faith in one God treating all human beings as equal. He and his sons ended their lives fighting for the religion. He is said to have declared that the Guru's spirit would thenceforward be in the Granth and in the Khalsa. Since then Guru Granth Sahib is worshipped by the Sikhs.

5. The teachings of Kabir Sahab, Guru Nanak and other Saints prepared the ground for the advent of the Incarmation of the Supreme Being Huzur Radhasoami Dayal in the August Form of Param Purush Puran Dhani Huzur Soamiji Maharaj.

RADHASOAMI FAITH

The tenets of the Radhasoami Faith are based on a living belief in

(a) the existence of God,

(b) Oneness of the essence of God and the spirit entity in human being and

(c) Continuity of life after death.

There is one True Supreme Being Who is he Fountain-Head of all spirituality and the Creator of the universe. The spirit or soul of man (Atman or Surat) is an emanation from the same Supreme Being.

According to teachings of the Faith, there are three Grand Divisions in the creation. The first is the purely spiritual region called Nirmal Chetan Desh. The second is Brahmand in which both spirit and mind (mana) exist and the mind is pre-dominant. The third is called the Pind Desh in which spirit, mind and matter all exist and matter pre-dominates. The Supreme Being is the Fountain Head of all spirituality. He is "all-powerful, all-wise, all-blissful, and all-luminous." A great current of spirituality issued from the highest region, as He willed, to bring about the creation. The current constituted one reegion after the other as it descended. Each of the Grand Divisions has 6 regions with their presiding deities. The spirit current is sustaining them and in the process various sounds are produced. The word 'Radhasoami' itself reflects in articulate from the sound of the Dhum whichi s produced by the spiritual current and in fact is constituted of RA-DHA-SOA-MI sounds.

According to the teachings of Radhasoami Faith there are three elements also in human body; the coarse matter of which the physical body is made; the subtle matter of which the human mind or the mana is made, and the third the spirit which is the life and soul of the human body and brings absolute evoltuion and development of man's body and mind. The human body and mind are both perishable or mortal, while the spirit is immortal. A spirit can attain salvation or freedom from the cycles of birth and death only if it enters the purely spiritual region.

The Supreme Being has blessed the human body with certain latent faculties and there are regions or centers corresponding to the regions in the creation in the human body. By awakening the latent faculties the spirit entity can establish contact with different regions of the creation which is the macrocosm. This can be achieved by following certain spiritual practices under the guidance and with the help of teacher or the Sant Satguru. The Supreme Being has been pleased to ordain the advent on earth from time to time of holy and awakened souls from the highest regions conversant with the secrets of latent human faculties and practical methods for awakening them in order to help the jivas to attain salvation. We call them Sant Satgurus. Now there is a line of perpetual succession. The Supreme Being manifested Himself as Param Purush Puran Dhani Soamiji Maharaj Who gave out the secrets of the creation and the methods for achieving salvation.

Any person who wishes to tread the path of spiritual progress has to renounce the worldly desires. He has to live a simple life of minimum wants and

meet his worldly needs out of his own honest earnings. Certain discipline is to be observed by such a seeker in the matter of food. He has to abstain from animal food and all intodicating substances. It is not necessary for a follower of the Faith to renounce the world and live in seclusion. He can make spiritual progress while leading the life of a family man (grihastha). The ideal is "better worldliness" and not un-worldliness.

The method of devotion and spiritual practices prescribed in the Faith are made known to the seeker who accepts these conditions. Such a seeker can be initiated only by the Sant Satguru or by a person under His directions or according to arrangement laid down by Him. He has to accept "Radhasoami" as the True Spiritual Name of the Supreme Creator. Ordinarily a person is initiated only after he has finished with his education. Such an initiated person is known as a Satsangi.

When a person is initiated he is taught two devotional practices, namely Sumiran and Dhyan which enable the devotee to gain sufficient control over worldly and carnal desires of his body, senses and mind. Sumiran is repetition of the Holy Name which is re-sounding in the human body all the time. Dhyan consists of contemplation of the Form of Sant Satguru at the seat of the spirit which helps in concentration and withdrawal. When reasonable progress in these practices has been made, the devotee is initiated into the third practice called the sound practice or Surat Shabd Abhyas for advancing towards different spiritual planes. This is also called Sultan-ul-Azkar by the Sufi Saints.

A true and sincere devotee who observes the principles of the Faith and regularly performs the spiritual practices can within his life time experience his advancement towards the goal of salvation.

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Buddhism —Punjabi University, Patiala
2. Comparative Religions — Kedar Nath Tiwari
3. Comparative Religions — A. G. Bauguet
4. Christianity — Punajbi University, Patiala
5. Discourses on Radhasoami Faith — Param Guru Huzur Maharaj Sahab
6. Seven Great Religions — Anni Besant
7. Hinduism — Punjabi University, Patiala
8. History of Islam—Vol. I — Hafiz Ghulam Sarwar
9. Introduction of Indian Religious — Harbans Singh, Lalmani Joshi
10. Introduction to Comparative Mysticism — Hacuse De M
11. Insights into Hinduism — R. N. Dandekar
12. Islam — Punjabi University, Patiala
13. Jainism — Punjabi University, Patiala
14. Major Religions of the World — Rev. G. R. Sinha & Rev. C. W. Dand
15. Souvenir — Radhasoami Satsang Sabha, Dayalbagh
16. Theories of Religion — Lowell W. Bloss
17. The Scientific Study of Religion — J. Milton Yinger
18. The Religions of Ancient World — Rawbinson
19. The Cultural Heritage of India — The Ramkrishna Institute of Culture
20. Yathartha Prakash—Vol. 1, 2, & 3 — Param Guru Huzur Sahabji Maharaj
21. Religions of the world — Lewis M. Hopfe
22. The Roots of world Religions — Saral Jhingrran
23. World Religions — Warren Methew

हिन्दी गन्थ

24. जैन धर्म — मुनि सुशील कुमार
25. प्राचीन भारतीय संस्कृति कला, राजनीति, धर्म-दर्शन —डॉ. ईश्वरी प्रसाद तथा शैलेन्द्र शर्मा
26. बौद्ध धर्म व संस्कृति —बलदेव उपाध्याय
27. भगवद्गीता के उपदेश —परम गुरु हुजूर साहबजी महाराज
28. सन्तों के धार्मिक विश्वास — डॉ. धर्मपाल मैनी
29. वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक संत — आर. जी. भंडारकर
30. भारतीय दर्शन —डॉ. बलदेव उपाध्याय
31. सिक्ख धर्मदर्शन की रूपरेखा — डॉ. जोध सिंह
32. वैदिक साहित्य और संस्कृति — बलदेव उपाध्याय